

संपादकीय



मिस्टर राव ने, भारतीय इतिहास परिषद (सरकारी) के अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठते ही उतावलेपन के साथ एक बयान जारी किया। जो 'इतिहास पद्धति' से सम्बंधित था। उन्होंने कहा कि, इतिहास को जानने-समझने के लिये भौतिक प्रमाणों, साक्ष्यों की जरूरत नहीं है। उनका इशारा स्पष्टतः उन पद्धतियों की ओर था जिन्हें इतिहास की आधुनिक पद्धतियाँ कहा जाता है और १८ वी १९ वी सदी में जिसका उद्भव व विकास यूरोपीय देशों में हुआ था। ध्यान रहे पुरातत्वीय साक्ष्य भी इन्हीं में से एक प्रमाण है।

माननीय राव ने भारतीय इतिहास को एक खास अंदाज में बदलने का काम हाथ में लिया है। इस बदलाव का असर अब धीरे धीरे दिखने लगा है। जैसे स्कूल-कालेज की इतिहास पाठ्य पुस्तकों के पाठ्यक्रम में इसकी घुसपैठ होने लगी है। सब का स्पष्ट मानना है कि (प्रतिक्रांति के बाद रचा गया) पुराण साहित्य वस्तुतः इतिहास के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। और वे उन इतिहास के विद्वानों को आगाह कर रहे हैं कि, प्रमाणिकता, वस्तुनिष्ठता, क्रोनोलाजी पर ज्यादा जोर न दें। क्योंकि आधुनिक इतिहास का दृष्टिकोण तर्क, बुद्धि और विवेक तथा विज्ञान संचेतना पर आधारित है। जो संघ की विचारधारा (Ideology) के प्रतिकूल है।

इधर कुछ वर्षों से ये सांप्रदायवादी स्कूल के इतिहासकार अनेक सवाल खड़े कर रहे हैं जो आस्था और विश्वास से सम्बंधित है परंतु बुद्धिवाद से दूर दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है। और! शायद इसीलिये जोतीराव फुले ने बुद्धिवाद के शास्त्रों से पुराण साहित्य का जो पोस्टमार्टम किया था उन लोगों को पसंद नहीं आया। वैसे तो इतिहासकार के रूप में डॉ. अम्बेडकर ने साहसपूर्वक कहा था कि इन धर्मशास्त्रों को डाइनामाईट लगाकर उड़ा दो। यह एक बुद्धिवादी बयान था।

८५% भारतीय जनों, मूलनिवासियों पर लादी गई नियोग्यता का समर्थन करने वाले कानून (Law of the Land) ही धर्मशास्त्र थे। इन धर्मशास्त्रों ने एक ऐसा सामाजिक शास्त्र बनाया, अर्थ तंत्र बनाया और राजनैतिक संस्कृति का जन्म दिया जो अक्षुण्ण कायम रही।

राजनैतिक धरातल पर स्वतंत्रता आंदोलन, सामाजिक परिवर्तन के लिये किया गया अस्पृश्यता आंदोलन, और स्वतंत्रता, समता व बंधुत्व के जीवन मूल्यों की पुनर्स्थापना के संवैधानिक प्रयास व लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता की जीवन पद्धति का अंगीकार आदि कुछ ऐसी ऐतिहासिक घटनायें हैं जिस पर नये भारत की नींव रखी गई थी। २५०० वर्षों तक जिस धर्म ने मूलनिवासियों को मात्र 'अ' अक्षर सीखने पर भी प्रतिबंध लगाया था अब! उनके लिये शिक्षा के दरवाजे खोल दिये गये थे। और हजारों सालों की यह ज्ञान व शिक्षा की भूख शिक्षा संस्थानों पर टूट पड़ी और वह 'बुद्धिवाद' का उदय अध्यात्मवादी के इतिहासविदों के लिये अस्वीकार है क्योंकि 'इतिहास' को वे लोगों ने ब्राह्मणवादी विचारधारा, दर्शन और अब उससे सम्बन्धित पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण का दुश्मन मानते हैं।

इधर अनेक वर्षों से संघ के शिक्षा प्रकोष्ठ ने भारत के विद्यापीठों में संघ विचारधारा के प्रोफेसरस् तैयार किये हैं। और इसी क्रम में इतिहासकार भी तैयार किये हैं।

इन इतिहासकारों को दायित्व सौंपा गया है कि भारतीय इतिहास-पाठ्यक्रमों, व पाठपुस्तकों में बदलाव करें। ये बदलावों का दृष्टिकोण उस विचारधारा धर्म, समाज व्यवस्था और जीवन मूल्यों की स्थापना होनी चाहिये जिसका प्रतिपादन संघ १९२५ ई. से लगातार करता आ रहा है। लेकिन इस 'संघ विचारधारा' को विकसित करने के लिये एक योजना के तहत राष्ट्र, राष्ट्रवाद, राष्ट्रभक्ती की आड़ में ऐसी व्याख्या की जा रही हैं जो संघ की विचारदृष्टी, दर्शन के अनुकूल हो।

इसीलिये, इस अध्यात्मवादी स्कूल के इतिहासकारों ने इतिहास में बुद्धिवाद और विज्ञान संचेतना का प्रायः विरोध किया है क्योंकि बुद्धिवाद, तर्क, वस्तुनिष्ठता, प्रमाणिकता और क्रोनोलाजी (कालक्रम) को महत्व देता है।

इसीलिये उन्हें वैदिक साहित्य और स्मृति साहित्य सहित पुराण साहित्य की आधुनिक इतिहास पद्धति से समीक्षा करना पसंद नहीं है।

इतिहास में अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिन पर इतिहासकार एक मत नहीं बना पाये हैं जैसे सिंधु घाटी की सभ्यता, सरस्वती नदी का प्रश्न, आर्यों की समस्या आदि। यहाँ दो इतिहास विचारधाराओं में टकराव दिखता है। एक है आधुनिक इतिहास जो इतिहासवाद के दृष्टिकोण को समर्थन करती है परंतु भारतीय इतिहासकारों की एक जमात ने अपना अलग दृष्टिकोण विकसित किया है जिसकी जड़े अतीत में हैं। जब की लिपी का भी आविष्कार नहीं हुआ था। सारा साहित्य कंठस्थ किया जाता था। परंतु इन सारे बिंदुओं पर एक बात और ध्यानाकर्षण करती है कि ये सारा इतिहास साहित्य जो वास्तव में वेद, आरण्यक, ब्राह्मणग्रंथ, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ महाकाव्य व पुराण आदि की १६-१७ वी सदी तक की टीकाओं के भाष्यकार ब्राह्मण थे।

भारतीय समाज व्यवस्था के सभी केंद्र यथा धर्म, दर्शन, संस्कृति, इतिहास और पुरातत्व आदि में क्षेत्रों में फुले अम्बेडकर विचारधारा के लोग प्रवेश कर रहे हैं। और इनकी नई व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि ये सारी इतिहास समीक्षाएँ भारतीय संस्कृति के ही मौलिक जीवन मूल्यों से प्रेरित हैं जो मानवतावाद के धरातल पर खड़े हैं।

अब! राजनैतिक रूप से आजाद भारत और गणतंत्र घोषित भारत ने भारतीय संविधान का अंगीकार किया है। यह जानना महत्वपूर्ण होगा कि भारतीय संविधान ने जिन जीवनमूल्यों और संस्कृति की उपासना की है उनकी प्रेरणा और आधार श्रमण संस्कृति और यही भारतीय संस्कृति है। लेकिन यहाँ 'ब्राह्मण संस्कृति' की वापसी के प्रयास एक खतरनाक कदम है जो उस भारतीय संविधान पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा कर रहा है। धर्मनिरपेक्षता, स्वतंत्रता, और लोकतंत्र के मूल्य संकट में पड़ रहे हैं परन्तु सर्वसाधारण जन इन सवालों को नहीं समझ पाते हैं यह विडम्बना है।

इतिहास संदेश - शोध पत्रिका के संपादकीय परामर्श मंडल के शीर्ष परामर्शदाता माननीय मुद्राराक्षस नहीं रहे। १३ जून २०१६ को उन्होंने अंतिम सांस ली। २१ जून १९३३ को उनका जन्म लखनऊ में हुआ था। उनकी उम्र भले ही ८३ साल की थी लेकिन कड़कमिजाजी, उर्जा, क्रांतिकारी विचार, अडिगता और खरी-खरी लिखने सुनाने के मामले में वह युवाओं को मात देते थे।

इतिहास संदेश प्रकाशन की संकल्पना को लेकर मैं लखनऊ में उनके निवास पर मिला था तथा उन्होंने बहुत

खुश होकर कहा था, ऐसी एक पत्रिका की जरूरत थी जो आप पूरी कर रहे हैं। वे लखनऊ के बामसेफ के अधिवेशन में आये थे और मार्गदर्शन किया था।

उनका पूर्व नाम सुभाषचंद्र था लेकिन साहित्य और इतिहास जगत में मुद्राराक्षस के नाम से प्रसिद्ध हुवे, धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ उनकी बहुचर्चित और प्रसिद्ध किताब है जिसके अनेक अंश इतिहास संदेश में छपे हैं।

सभी इतिहास प्रेमियों और इतिहास संदेश परिवार की ओर से उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि।

प्राचीन इतिहास के गाढ़े अभ्यासक डॉ. नवल वियोगी भी नहीं रहे। वे प्राचीन इतिहास के मूर्धन्य विद्वान थे। सिन्धु घाटी सभ्यता के सृजनकर्ता, प्राचीन भारत के शासक नाग, प्राचीन आदीवासी सभ्यता जो महान आश्चर्य थी, उत्तरापथ के नाग शासक व शिल्पकार आंदोलन का इतिहास, नंदो व सेनों की उत्पत्ति और इतिहास उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं जो उनके मौलिक चिंतन का उदाहरण है।

डॉ. नवल वियोगी भारतीय राष्ट्रीय ऐतिहासिक अनुसन्धान समिति के अध्यक्ष थे।

डाक्टर साहब इतिहास संदेश के संपादकीय परामर्श मंडल में थे। इतिहास संदेश के सैकड़ों पाठकों और इतिहास संदेश के सम्पादक मंडल की ओर से उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि।

प्रतिरोध का नाम मुद्राराक्षस है, प्रतिरोध कभी मरता नहीं,
संसार में जब तक जुल्म रहेगा तब तक प्रतिरोध रहेगा

विषमता मूलक संस्कृति यस्थास्थितिवाद के विरुद्ध
वैचारिक क्रांति के महान प्रख्यात साहित्यकार



मुद्राराक्षस जी

एवं

डॉ. नवल वियोगी जी



(भारतीय राष्ट्रीय ऐतिहासिक अनुसन्धान समिति के अध्यक्ष)

जिनका निर्वाण हो गया

**इतिहास संदेश और बामसेफ परिवार की
ओर से**

शत्-शत् नमन एवं श्रद्धांजलि

ऐतिहासिक पुरातत्त्व और शहरी इतिहास की समस्याएं

—रामशरण शर्मा

सुव्यवस्थित रूप से ऐतिहासिक स्थलों के उत्खनन और अन्वेषणको आरंभ हुए सौ साल से अधिक हो गए हैं। शहरी इतिहास के छात्र उन प्रारंभिक उत्खननकर्ताओं और अन्वेषकों के प्रति कृतज्ञ हैं, जिन्होंने प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित महत्त्वपूर्ण नगरों और कस्बों की खोजबीन की है। उन्होंने बड़े पैमाने पर खुदाई की और बड़ी-बड़ी इमारतें खोज निकाली। एलेकजांडर कनिंघम ने, जिन्होंने पुरातात्त्विक सर्वेक्षण (१८६२-६६) और फिर भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के महानिदेशक (१८७९-८५) का काम किया, अनेक प्राचीन नगरों की पहचान आजकल के स्थानों के साथकी, जैसे बसाढ़ के साथ वैशाली की और बड़गांव के साथ नालंदा की। उनके बाद के विद्वानों ने इस प्रक्रिया को जारी रखा। प्राच्यविदों ने धर्म और अध्यात्म के देश के रूप में भारत की छवि का प्रचार किया था। बौद्ध नगरों के बारे में चीनी यात्रियों के वृत्तांतों के प्रकाशन से यह छवि और भी गहरी हुई। इसलिए उत्खननकर्ताओं ने अपना ध्यान स्तूपों, चैत्यों, मंदिरों (बौद्ध) विहारों आदि तक ही सीमित रखा। भौतिक संस्कृति के उदय और विकास में भारतीयों का क्या योगदान था, इसकी अवहेलना की गई, और उनकी सर्जनात्मक क्षमता में संदेह व्यक्त किया गया। १९४५ में भारत के कुछ प्राचीन नगरों पर लिखते हुए, स्टुअर्ट पिगॉट ने भारत की अपरिवर्तनशील प्रथाओं और भौतिक संस्कृति की चर्चा की। उनका कहना है कि “भारतीय इतिहास में प्रगति का न कोई अंतर्निहित तत्त्व है और न हमें ढूंढना चाहिए— बदलती हुई मानवीय आवश्यकताओं के अनुरूप संस्थाओं का कोई जीवंत उद्विकास नहीं दिखाई देता, भौतिक संस्कृति में कोई प्रगति नहीं मालूम पड़ती और निरंतर बढ़ती हुई आबादी के अनुपात में उच्चतर जीवनस्तर का क्रमिक प्रसार

नहीं दृष्टिगोचर होता।^१ स्वभावतः अंग्रेज पुरातत्त्वविदों ने भारत की भौतिक संस्कृति पर और खासकर इसकी कला और स्थापत्य पर ईरानी^२, यूनानी^३ अथवा रोमो प्रभाव खोजा। फिर, राजनीति और सैनिक इतिहास से मनोग्रस्त रहने के कारण उन्होंने राजमहलों और मोर्चाबंद परकोटों की खोज की। पाटलिपुत्र पर ए.एल वाडेल की, १८९६ की रिपोर्ट और कुम्रहार पर डी.वी. स्पूनर की १९१३-१४ ई. की रिपोर्ट में यह बात उभरकर आती है।

निराली तथा सुंदर मूर्तियों और कलाकृतियों को खोज निकालने में प्रारंभिक यूरोपीय और मुख्यतः अंग्रेज पुरातत्त्वविदों की गहरी रुचि रही। इनमें से अधिकांश मूर्तियों और कलाकृतियों को ब्रिटिश म्यूजियम और अन्य विदेशी संग्रहों को समृद्ध करने के लिए बाहर भेज दिया गया। उस समय भारतीय संग्रहालयों को अतीत के अद्भुत अवशेषों का भंडार समझा जाता था। वे जादूघर और अजायबखाना कहलाते थे। ‘छोटी-मोटी उपलब्धियों’ की पुरातात्त्विक दृष्टि से उपेक्षा की जाती थी। यदि सावधानीपूर्वक इनका संरक्षण और विश्लेषण किया जाता, तो शहरी जीवनके अध्ययन के लिए वे बहुत महत्त्व की सिद्ध हो सकती थीं। वास्तव में साधारण शहरी बस्तियों की तुलना में मठों, मंदिरों और महाविहारों को अधिक महत्त्व दिया गया।

वर्तमान शताब्दी के तीसरे और चौथे दशकों में भारतीय पुरातत्त्वविद् बहुत कुछ सक्रिए हुए, लेकिन अंग्रेजों के निर्देश में काम करने के कारण वे अपने को औपनिवेशिक धारणा से पूरी तरह मुक्त नहीं कर सके। व्यापक उत्खननों के द्वारा उन्होंने देश की सांस्कृतिक विरासत के बहुत बड़े हिस्से को बचा लिया, यद्यपि इसमें अधिकांशतः धार्मिक इमारतें ही थीं। कुछ

पुरातत्त्वविदों ने विदेशी प्रभाव को ठीक ही नकारा, लेकिन इतिहासकारों के साथ मिलकर उन्होंने मिथकों का भी सृजन किया। गुप्तकाल का स्वर्णयुग इसका एक उदाहरण है।

मॉर्टिमर द्विलर (१९४४-४८) के संरक्षण में, क्षेत्र-उत्खनन की प्रचलित तकनीक की जगह स्तरीकृत उत्खनन (स्ट्रेटीफाइड एक्सकेवेशन) ने ले ली, जिसमें भौतिक संस्कृति के क्रमिक विकास का सर्वेक्षण महत्त्वपूर्ण हो उठा। यद्यपि अरिकमेडु एकल संस्कृतिवाला स्थल था, फिर भी रोम के प्रभाव की खोज की चाह में द्विलर को स्तरानुक्रम-उत्खनन की ओर प्रेरित किया।^५ उनके भारतीय शिष्यों ने भी इसी तरह के उत्खनन-कार्य प्रारंभ किए। अब कोई भी किसी प्राचीन शहर के उदय, विकास और पतन को स्पष्टतः समझ सकता था।

हाल के वर्षों में पुरातात्विक कार्य की दिशा के बदलने के कारण ऐतिहासिक पुरातत्त्व पीछे रह गया है। गत तीस वर्षों में प्रागैतिहास और आद्य-इतिहास का पता लगाने की होड़ लग गई है। पुरावशेष जितना प्राचीन होता है, उसके अन्वेषक को उतना ही सम्मान मिलता है। पाकिस्तान के बन जाने के कारण मुख्य हड़प्पाई स्थल भारत के बाहर चले गए हैं। अतएव देश में ऐसे स्थलों को खोजकर ही इस हानि को पूरा किया जाना है। इसके अतिरिक्त, भारत को ही आर्यों का मूल निवास ठहराने की आकांक्षा भी पाई जाती है जिसके फलस्वरूप अनंत पुरातत्त्विक खोजें हो चुकी हैं।^६ इन प्रयासों से प्रस्तर-युग, ताम्र-पाषाणयुग, हड़प्पा संस्कृति और चित्रित धूसर मृद्भांडों का प्रयोग करनेवालों के बारे में काफी सामग्री सामने आई है।

लेकिन यह उपलब्धि ऐतिहासिक पुरातत्त्व की कीमत पर हुई है। इस प्रकार के पुरातत्त्व को देश में उपलब्ध सीमित साधनों और विशेषता का समुचित हिस्सा नहीं मिला है। उन स्थलों में, जहां प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक, दोनों तरह के अवशेष मिलते हैं,

प्रागैतिहासिक काल की रिपोर्टों और विवेचनाओं पर अधिक ध्यान दिया गया है। मसलन, चिरांद के कुछ खातों (ट्रेंचेज) में प्राप्त नवपाषाण और ताम्र-पाषाणकाल की सामग्री को, जिसमें हड्डी के औजार भी शामिल हैं, जरूरत से अधिक महत्त्व दिया गया है। दकन और मध्य भारत के अनेक स्थलों में ताम्र-पाषाणीय और ऐतिहासिक, दोनों तरह की संस्कृतियां मिलती हैं, और न दोनों के बीच लगभग छः सौ वर्षों का अंतराल है। यद्यपि दोनों संस्कृतियों को एक ही रिपोर्ट में रखा गया है, तथापि ताम्र-पाषाणीय संस्कृति पर अधिक ध्यान दिया गया है।

यद्यपि ऐतिहासिक पुरातत्त्व में प्राचीन नगरों को महत्त्व मिला है, फिर भी उसकी परिधि में अथवा अन्यत्र पड़नेवाले प्राचीन ग्रामीण स्थलों का उत्खनन नहीं के बराबर हुआ है। औद्योगिक क्रांति के पहले, परिवहन की कठिनाइयों के कारण, शहर को खाद्यान्न आदि के लिए अपने पड़ोस के प्रदेश पर निर्भर रहना पड़ता था। इसलिए निकटवर्ती पृष्ठप्रदेश के अन्वेषणों और जांच-उत्खननों के बिना किसी शहर और उसके पोषक कृषिक आधार के संबंध का स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

मध्ययुगीन स्थलों के पुरातत्त्व की दुखद उपेक्षा की जाती है। फलस्वरूप हमें मध्यकाल की बस्तियों के जीवन के बारे में कम जानकारी है। **इंडियन आर्कियोलॉजी १९८२-८३:ए रिव्यू में** 'आरंभिक ऐतिहासिक' (अर्ली हिस्टोरिक), 'आरंभिक मध्ययुगीन' (अर्ली मेडिवल) और 'उत्तर-मध्ययुगीन' (लेट मेडिवल) पारिभाषिक शब्दों का इस्तेमाल किया गया है। यह निश्चय ही पुरातत्त्व में काल-निर्णय संबंधी पहले के प्रयासों को आगे बढ़ाता है और इसे इतिहास के निकट लाता है। लेकिन इन तीन कालों का क्या तिथिक्रम है, इनकी क्या अवधारणा है और प्रत्येक काल की भौतिक संस्कृति कैसी है, इसे स्पष्ट करना अभी बाकी है।

अंतिम बात। शहरी इतिहास के संदर्भ में क्षैतिज उत्खनन की प्रासंगिकता विचारणीय है। व्यापक पैमाने पर किए गए उत्खनन से किसी नगर के आकार और उसकी आबादी के बारे में जानकारी मिल सकती है। कांस्ययुगीन स्थलों में मोहनजोदड़ो का उत्खनन बड़े पैमाने पर हुआ जो हड़प्पा के आकार से पांच गुना बड़ा था। इस उपमहाद्वीप में व्यापक संख्या में उपलब्ध आरंभिक ऐतिहासिक स्थलों में केवल तक्षशिला, कौशांबी, अहिच्छत्रा और नागार्जुनकोंडा का बड़े पैमाने पर उत्खनन हुआ। अतरंजीखेड़ा, राजघाट, खैराडीह और चिरांद का उत्खनन भी यथेष्ट हुआ है। लेकिन मथुरा जैसे अतिमहत्त्वपूर्ण स्थल अभी तक समुचित खुदाई नहीं हुई है।^{१०}

इन सीमाओं के बावजूद, पहले के व्यापक उत्खननों और हाल की लम्बवत् तथा क्षैतिज खुदाइयों के आधार पर शहरी इतिहास लिखने के प्रयास किए गए हैं। १९७३ में प्रकाशित अपने विद्वत्पूर्ण प्रबंध में अमलानंद घोष ने आरंभिक इतिहासकालीन शहरीकरण की समस्या से जुझने की कोशिश की।^{११} उनके अनुसार प्रशासनिक और व्यापारिक संगठन नगर के अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक है।^{१२} घोष से पहले यज्ञदत्त शर्मा ने १९५३ और १९६४ में प्राचीन शहरों के अवशेषों का सर्वेक्षण किया।^{१३} इन स्तुत्य प्रयासों के बावजूद अभी भी नगरों के पतन की समस्या पर^{१४} शोध आवश्यक है।

अध्ययन नगरीकरण का हो या नगरों के पतन का, शहरों की शिनाख्त आवश्यक है। इसके लिए क्या मापदंड हो सकते हैं? चाइल्ड की शास्त्रीय परिभाषा में शहरी क्रांति की विशेषताओं में विशाल इमारतों और धनी आबादीवाली बड़ी-बड़ी बस्तियों का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त खाद्योत्पादन से अलग रहनेवाले वर्ग (शासक, शिल्पी, सौदागर इत्यादि) तथा कला, विज्ञान एवं लेखन का संवर्धन होता है। कांस्य युग की शहरी क्रांति के ये सारे लक्षण माने गए

हैं।^{१५} अनाज पैदा नहीं करनेवाले शहरवासियों को पोसनेवाले शिल्प-विशेषज्ञों की उपस्थिति और उत्पादकों से कर के रूप में प्राप्त अधिशेष के महत्त्व पर चाइल्ड ने बहुत बल दिया। एडम्स के अनुसार विस्तृत आकार और घनी आबादी नगरीकरण के निर्णायक कारक हैं, और प्राथमिक शहरी आवश्यकताओं में विशिष्ट शिल्पों का योगदान नगण्य होता है।^{१६}

ये विचार आरंभिक इतिहासकालीन लौहयुगीन शहरों के संदर्भ में भी व्यापक रूप से उपयोगी हैं। लेकिन विशाल इमारतों की उपस्थिति और शिल्पों की निरर्थकता के तत्त्व आरंभिक ऐतिहासिक शहरों में नहीं पाए जाते। अतयाधिक वर्षा, आर्द्र स्थितियां और निरंतर की बाढ़ से नदियों से बने अनेक मैदानी इलाकों में बड़ी इमारती संरचनाएं नहीं टिक सकती हैं। वस्तुतः मिट्टी के मकानवाले शहरों का अभाव कभी नहीं रहा है। हमारे विचार में शहर की वास्तविक पहचान केवल आकार और आबादी से नहीं होती, बल्कि भौतिक जीवन की गुणवत्ता और व्यावसायों के स्वरूप से होती है। यद्यपि पृष्ठप्रदेश से प्राप्त अधिशेष किसी शहर के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है, फिर भी केवल गैर-कृषकों की बस्तियों को शहरी केंद्र नहीं माना जा सकता। शिल्पों का संकेंद्रण और मुद्रा-आधारित विनिमय का प्रचलन शहरी जीवन की उतनी ही महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं। स्थापत्य विषयक ग्रंथों में निगम अथवा शहर के सभी वर्गों के लोगों और बहुसंख्य शिल्पियों की बस्तियों के रूप में ठीक ही परिभाषित किया जाता है।^{१७} ग्यारहवीं शताब्दी के वैयाकरण कैयट के अनुसार नगर (निगम) को ऐसी बस्ती के रूप में परिभाषित किया जाता है जो दीवार और खाई से घिरा हो और जहां शिल्पियों और सौदागरों के संघों के कानून और रिवाज का प्रचलन हो।^{१८}

अब हम पुरातत्त्विक तथ्यों के आधार पर शहरों की पहचान के चिह्नों पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। बस्ती का आकार महत्त्वपूर्ण विचारणीय बिंदु

है। एक टीले अथवा एक-दूसरे से सटे हुए अनेक टीलों से, जो माप में एक वर्गमिल हों, धनी और बड़ी आबादी का संकेत मिलता है। चूंकि रिपोर्टों में इस प्रकार की मापें प्रायः नहीं दी जाती, इसलिए न तो आकार और न आबादी का आकलन किया जा सकता है। जहां तक मुझे जानकारी है, अभी तक किसी ने किसी आरंभिक ऐतिहासिक काल के शहर की आबादी का आकलन नहीं किया है, यद्यपि चित्रित धूसर मृद्भांडवाले आद्य-ऐतिहासिक स्थलों के बारे में अनेक अनुमान लगाए गए हैं।^{१६}

मकानों की सघनता से घनी आबादी का संकेत मिलता है, लेकिन सीमित उत्खनित क्षेत्र के कारण ऐसे दृष्टांत बहुत कम हैं। यदि शहर किसी नदी के तट पर नहीं बसा है तो तालाबों और छल्लेदार कूपों की अधिकता से यह संकेत मिल सकता है कि किसी बड़ी आबादी को इनके जल की जरूरत पड़ती थी। साख्ता गड्डों के रूप में प्रयुक्त छल्लेदार कूपों से घनी बस्तियों के संकेत मिलते हैं। जो भी हो, अब तक किए गए उत्खननों से इस संदर्भ में अधिक सहायता नहीं मिलती।

गैर-कृषकों की बहुसंख्या शहरी आबादी का विशिष्ट लक्षण है। ऊर्ध्व उत्खननों से प्राप्त लोहो के औजारों तथा अन्य शिल्पोपकरणों से उनके प्रयोक्ताओं के व्यवसाय के बारे में कुछ जानकारी मिल सकती है। शिल्पोपकरणों से शिल्पीय तथा अन्य गतिविधियों का पता चलता है। इन उपकरणों में केवल कुल्हाड़ियां, बसूले, छेनियां आदि ही नहीं, बल्कि कुठालियां, चूल्हे, भट्टियां, रंगाई के हौज आदि भी शामिल हैं। इनके सामाजिक और आर्थिक निहितार्थों की जांच आवश्यक है। कृषि के औजारों की कमी से कृषि की घटती हुई भूमिका का आभास मिलेगा। निस्संदेह फावड़ों, कुल्हाड़ियों, हंसियों और बसूलों का इस्तेमाल शिल्पों और कृषि, दोनों में हो सकता है। लेकिन हल के फाल की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति अपना महत्त्व रखती है। हो सकता है कुछ कृषक नगरों में

बसे रहे हों, लेकिन उनकी संख्या अत्याधिक नहीं रही होगी। फिर भी, कृषकों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोहे के औजार शहरों में बनते थे। इसलिए शहरी स्थलों के उत्खनन में इस प्रकार के शिल्पोपकरणों के मिलने की आशा बंधती है। लेकिन ऊर्ध्व उत्खननों में खुदाई सीमित होने के कारण बहुत कुछ भाग्य पर निर्भर करता है।

सीमित उत्खननों से शहर में रहेवाले शिल्पीगण तथा अन्य विशेषज्ञों के ठिकानों का पता लगाना कठिन है। लेकिन जहां कहीं आवां, चूल्हों, भट्टियों, लौह मलों, सिक्के ढालने के सांचों, मनके, मोहरों और मोहरछापे ढालने के लिए सांचों, आभूषणों, मृण्मय वस्तुओं (टेराकोटा) जैसी वस्तुएं मिलती हैं, उनसे विभिन्न प्रकार के शिल्पियों के होने का संकेत मिलता है। विविध प्रकार के और प्रचुर संख्या में मृद्भांडों की उपलब्धि तरह-तरह के कुम्हारों का पता देती है।

आरंभिक ऐतिहासिक काल के शहरों में शहरीकरण के कई ऐसे चिह्न हैं जो हड़प्पाई शहरों में नहीं पाए जाते। ऐतिहासिक शहरों में संगठित तथा वैयक्तिक शिल्पियों और सौदागरों के अस्तित्व का पता सुपट्य मोहरों और अभिलेखों से चलता है। यहां भीटा, वैशाली और पहाड़पुर की मोहरों के उदाहरण दिए जा सकते हैं। इनके अलावा इस प्रकार के शहरों के उत्खनित स्तरों में कुछ सिक्के भी मिलते हैं। शिल्पियों और व्यापारियों की गतिविधियों से जुड़ी हुई धातु-मुद्रा की उपलब्धि निश्चय ही ऐसे स्थलों को शहरी रंग प्रदान करती है। सिक्कों के ज्ञात हुए भंडार बतलाते हैं कि धातु-मुद्रा के माध्यम से माल-विनिमय होता था। ध्यातव्य है कि लगभग तीन दर्जन आरंभिक ऐतिहासिक स्थलों से सिक्के ढालने के सांचे मिले हैं। जिन समुद्रतटीय स्थलों पर जहाजी मालघाटों अथवा मालगोदामों का पता लगा है, उनका नगर होना स्पष्ट है। अरिकमेडु और कावेरीपतनम् इनके अच्छे दृष्टांत

हैं।

लगता है कि कीमती और कम कीमती पत्थरों, परिष्कृत मृण्मय वस्तुओं, पतली दीवारोंवाले तथा चमकीले मिट्टी के बरतनों जैसी मूल्यवान, प्रतिष्ठापरक अथवा विलासिता की वस्तुओं का इस्तेमाल ऐतिहासिक काल के शहरों के उच्चवर्णीय लोग करते थे। विंध्य पर्वत के दक्षिण स्थित स्थलों से प्राप्त शीशे के बरतनों, हाथीदांत की वस्तुओं और विभिन्न प्रकार के रोमी मृद्भांडों के बारे में भी यही सच मालूम पड़ता है। छत-छाजन करने में खपड़ों का इस्तेमाल भी आबादी के धनी वर्गों तक सीमित रहा होगा। लंबवत् उत्खननों के आधार पर हम इस प्रकार के सुझाव दे सकते हैं और इनसे प्राक्-औद्योगिक काल के उपभोक्ता वर्ग पर प्रकाश पड़ता है। लेकिन प्राचीन शहरों में जो विलासिता की वस्तु थी वही आरंभिक मध्ययुग में ग्रामीण उच्च वर्गों के लिए आवश्यकता बन गई होगी। आरंभिक मध्ययुगीन ग्रामीण स्थलों के उत्खनन से यह बात साबित हो सकती है।

चाइल्ड के मतानुसार विशाल इमारतें अधिशेष की खपत की प्रतीक होती हैं, यद्यपि इनसे जनसाधारण पर शासकों की शक्ति और प्रतिष्ठा का रोब जमता है। लेकिन आश्चर्य की बात है कि ऐसी इमारतें आरंभिक ऐतिहासिक नगरों में नहीं पाई गई हैं। पकी ईंटों के मकान लगभग ३०० ई.पू. के आसपास प्रकाश में आए और एक शताब्दी बाद महत्वपूर्ण हो गए। लेकिन शहरों को केवल ईंट के मकान के साथ जोड़ना गलत होगा। मध्य एशिया के अंतर्गत अफरासियाब में मिट्टी के मकानोंवाला शहर पाया गया। भारत में ईंट अथवा पत्थर की बनी विशाल इमारतें, जिनमें किले, मंदिर और बौद्ध विहार शामिल थे, आरंभिक मध्ययुग में व्यापक रूप से पाई जाती थीं। लेकिन उन नगरों की जनसंख्या की जानकारी नहीं है। उनको खाद्यान्न, शिल्पोपकरण और तरह-तरह की सेवाएं कैसे मिलती थीं, इसका अभी तक पता नहीं है। यदि मध्य-गांगेय

मैदानी इलाकों जैसे अनेक कछारी मैदानों की आर्द्र, बरसाती जलवायु को ध्यान में रखा जाए तो अच्छे पैमाने पर पकी ईंटों के मकान बड़े महत्व के मालूम पड़ते हैं और वे शहरों की विशेषता बन जाते हैं। मध्य एशिया की शुष्क जलवायु में मिट्टी के मकान टिकाऊ हो सकते हैं और वहां केवल ऐसे मकान ही नगरों का निर्माण कर सकते हैं। पर कछारी मैदानों की आर्द्रता में वे अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकते। आर्द्र जलवायु में पकी ईंट के मकान मिट्टी के मकान टिकाऊ हो सकते हैं और वहां केवल ऐसे मकान ही नगरों का निर्माण कर सकते हैं। पर कछारी मैदानों की आर्द्रता में वे अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकते। आर्द्र जवायु में पकी ईंट के मकान मिट्टी के मकानों से अधिक ठहर सकते हैं।

दकन के अनेक स्थानों में और अन्य ऐतिहासिक स्थलों पर कोठार और अन्नभंडार पाए गए हैं। जाहिर होता है कि इनमें शहरी आबादी के पोषण के निमित्त अधिशेष खाद्यान्न संचित होते थे। यह पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता कि ये अनाज सौदागर लाते थे अथवा राज्य उन्हें कर के रूप में प्राप्त करता था। धुलिकट्ट (आंध्रप्रदेश) में अन्नभंडारों से सिक्के बरामद हुए हैं, जिनसे अनाज की खरीद-बिक्री साबित होती है। बहरहाल अन्नभंडारों से पता चलता है कि खाद्यान्न वहां देहाती इलाकों से लाए जाते थे। इन भंडारों से देहातों पर शहरों की निर्भरता का संकेत मिलता है।

गलियों, दुकानों, नालियों और किलेबंदियों से शहरी बस्तियों के बारे में अच्छी जानकारी मिल सकती है। कहीं-कहीं किलेबंदियों का कुछ हद का पता लगाया गया है, लेकिन विद्यमान कच्ची मिट्टी की दीवारों और पकी ईंटों के परकोटों से संकेत मिलता है कि वे सुरक्षा के लिए बनाए गए थे, और ये कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** के 'दुर्गनिवेश' अथवा 'दुर्गविधान' शीर्षक परिच्छेद में वर्णित अनुदेशों का आंशिक पालन करते हैं। फिर भी, प्राचीनकाल में केवल राजसत्ता और

प्रशासन के स्थानों की ही घेराबंदी की जाती होगी।

अनेक स्थलों में नालियां और कहीं-कहीं गलियां मिलती हैं। नालियों और सफाई के प्रबंधों से घनी आबादी का संकेत मिलता है। पूर्वी उत्तरप्रदेश के बलिया जिले में स्थित खैराडीह जैसे दृष्टांतों में पकी ईंटों से पाटी हुई अथवा कच्ची सड़कों से और मकानों की कतारों के बीच की गलियों से दुकानों और बाजार के होने का पता चलता है। दुकानों के स्पष्ट संकेत भीटा में पाए जाते हैं।

पूर्व से पश्चिम और फिर दक्षिण की ओर बढ़ने पर चिरांद, बक्सर, खैराडीह, मसोन, सोहगरा, भीटा, अतरंजीखेड़ा, कोंडापुर, वडगांव-माधवपुर, अरिकमेडु इत्यादि जैसे अनेक शहरी स्थलों को पहचानने में हमें अपने मानदंडों से सहायता मिलती है। इनका उत्खनन हो चुका है, लेकिन प्राचीन ग्रंथों में इनका पता लगाना कठिन है। उसी क्रम से खोजने पर प्राचीन ग्रंथों में वैशाली, पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशांबी, शृंगवेरपुर, श्रावस्ती, हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा, मथुरा, इंद्रप्रस्थ, उज्जैन, भोगवर्धन, कावेरीपत्तनम् इत्यादि अनेक शहरों का उल्लेख मिलता है। इनका पूर्णतः उत्खनन नहीं हुआ है। इनमें से अनेक का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है।

जो लोग शहरी व्यवस्था के लिए आकार और आबादी के घनत्व को निर्णायक मानते हैं, उनके लिए लम्बवत् उत्खनन शहरों की शिनाख्त के लिए काफी नहीं होता। लेकिन हमारी दृष्टि में किसी जगह के निवासी जिन शिल्पोंकरणों और अन्य वस्तुओं का प्रयोग करते हैं उनसे उनके जीवन की गुणवत्ता का पता चलता है और इसका महत्त्व उस जगह के आकार से कहीं अधिक होता है। कुषाण, क्षत्रप और सातवाहन संस्कृतिवाले अनेक टीलों के सदृश एक ही संस्कृतिवाले स्थल में लंबवत् उत्खनन से उस टीले के पूरे क्षेत्र में रहनेवाले प्राचीन निवासियों की जीवन-पद्धति का अनुमान मिल सकता है। यही बात बड़े सांस्कृतिक

स्थलों पर लागू होती है। लेकिन यहां फिर ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों की भौतिक जीवन-पद्धतियों के बीच अंतर करना पड़ेगा। यह तभी संभव होगा जब आरंभिक ऐतिहासिक काल के ग्रामीण स्थलों के पुरातत्त्व में कुछ प्रगति हो। अभिलेखीय भूमि-अनुदानों में अनेक गांवों की चर्चा मिलती है, और उनमें से अनेक गांवों की शिनाख्त हो चुकी है। उन्हें उत्खनन तथा अन्वेषण के निमित्त चुना जा सकता है।

इस बीच हम लम्बवत् उत्खननों से अधिक-से-अधिक लाभ उठा सकते हैं। एक-दूसरे से दूर स्थित कई स्थलों से भी यदि उत्खनन के द्वारा समान शिल्पों और प्रौद्योगिकी का संकेत मिलता है, तो इस तथ्य को स्थानीय महत्त्व से कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त होता है। एक ही संस्कृति-क्रम में दूर-दूर स्थित स्थलों में लम्बवत् उत्खननों से प्राप्त सामग्रियों के पूर्णयोग से शहरीकरण की सामान्य धारणा बन सकती है, हालांकि यह कोई बहुत अच्छी विधि नहीं है। लम्बवत् उत्खननों द्वारा अनेक स्थलों पर शहरी जीवन की विशेषताएं प्रदर्शित होती हैं, यदि वे क्षैतिज उत्खननों द्वारा उद्घाटित विशेषताओं से मेल खाती हैं, तो शहरी इतिहास के लिए इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

अब तक लगभग एक सौ चालीस शहरी स्थलों का उत्खनन हुआ है। जो स्थल द्वीलर की पद्धति से खोदे गए हैं, उनमें से अधिकांश की रिपोर्टें **इंडियन आर्कियोलॉजी - ए रिव्यू** में मिलती है। लेकिन इन रिपोर्टों में पाठकों के उपयोग के लिए काट-संबंधी रेखांकित रुपरेखा (स्कीमैटिक सेक्शन) के द्वारा स्थल के समावेशक चित्र बहुत कम मिलते हैं। जिन उपलब्ध काटों (सेक्शंस) और विद्यमान रिपोर्टों में गुप्त शासकों और उनके बाद के काल के शहरी पतन के स्पष्ट संकेत मिलते हैं, उनकी संख्या अधिक नहीं है। लम्बवत् उत्खनन के द्वारा प्रदर्शित उजाड़ से शहरों के पतन के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। लेकिन उसकी आलोचना में यह दलील जी जा सकती है कि टीले के

जिन भागों में खुदाई नहीं हुई, उनमें भी आबादी के चिह्न मिल सकते हैं। लेकिन यहां हमें उत्खननकर्ता के विवेक पर भरोसा करना होगा जो अपने उत्खनन-स्थल की जानकारी रखता है। इससे भी अहम बात यह है कि जब अनेक स्थलों पर बारंबार पतन और उजाड़ के चिह्न मिलने लगते हैं तो उनसे किसी प्रतिरूप (पैटर्न) का अनुमान हो जाता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उत्खनन चाहे लम्बवत् हुआ हो अथवा क्षैतिज, लम्बवत् उत्खननों से प्राप्त सारे निष्कर्ष फहियान और ह्वेन सांग के, जो शहर के किसी खास भाग का नहीं बल्कि पूरे शहर का वर्णन करते हैं, प्रेक्षणों से संपुष्ट होते हैं। चीनी तीर्थयात्री ऐसे ज्यादातर बौद्ध नगरों के पतन का वर्णन करते हैं जिनको उन्होंने पांचवीं और सातवीं शताब्दियों में स्वयं देखा था।

शहरों के विकास और पतन का व्यापार के इतिहास के साथ घनिष्ठ संबंध है। भारत और रोम के आपसी व्यापार के लिए एकतरफा पुरातात्विक साक्ष्य मिलता है, क्योंकि प्रायद्वीपीय भारत में प्राप्त रोमी सामानों की तुलना में रोमी साम्राज्य से कुछ ही, छिटपुट भारतीय वस्तुओं के मिलने की सूचना मिली है। भारत मुख्यतः रोमी मिस्र और पश्चिमी एशिया से व्यापार करता था, मगर वहां मुश्किल से किसी भारतीय वस्तु के प्राप्त होने की खबर मिलती है। निस्संदेह बेगराम (अफगानिस्तान) में उत्खनन के फलस्वरूप पहली-दूसरी शताब्दियों के भारतीय हाथीदांत मिले हैं।^{१७} इसी प्रकार, यद्यपि भौतिक अवशेषों के वैज्ञानिक परीक्षण से वस्त्रों, खाद्यान्नों इत्यादि के अस्तित्व के बारे में पता लग सकता है, फिर भी कुषाणकाल में भारत और मध्य एशिया के आपसी व्यापार में किन-किन पण्य-वस्तुओं का इस्तेमाल होता था, इसकी जानकारी नहीं है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भारत के व्यापार के संबंध में ऐसी ही पुरातात्विक स्थिति पाई जाती है। दक्षिण भारतीय शहरी स्थलों में प्राप्त चीनी मिट्टी के

बरतन का मूल स्रोत चीन रहा होगा, जैसाकि वास्तव में नवीं शताब्दी अथवा बाद के काल के काही (सेलडॉन) बरतनों के मामले में है। लेकिन दक्षिण-पूर्व एशिया के अंतर्गत कुछ स्थानों के उत्खनन में सिर्फ शीशे और अन्य सामग्रियों के भारतीय मनके पाए गए हैं।^{१८} यदि चौथी और दसवीं शताब्दियों के बीच भारत के साथ दक्षिण-पूर्व एशिया का सक्रिय व्यापार होता था, तो पुरातत्त्व में इसका प्रदर्शन होना चाहिए। जाहं तक जानकारी है, दक्षिण-पूर्व एशियाई और खासकर हिंद-रोमी व्यापार ने ईसा की तीसरी शताब्दी तक इस प्रायद्वीप में शहरों के विकास में ठोस योगदान किया। सुदूर स्थलमार्गीय तथा समुद्रपारी व्यापार को क्षति पहुंचते ही शहरी केंद्रों का न्हास आरंभ हो गया।

नगरों के पतन की परिभाषा करना आवश्यक नहीं है नगरीकरण के ठोस लक्षणों का संकेत ऊपर किया जा चुका है। यदि किसी शहरी स्थल पर ये लक्षण अनुपस्थित हों अथवा निरंतर न्हासोन्मुख अवस्था में हों, तो नगरों के पतन की सजीव कल्पना की जा सकती है। इससे अनेक प्रश्न खड़े होते हैं। विनगरीकरण के व्यापक तथ्य की प्रक्रिया को कैसे मसझा जाए? का इसे केवल भारतीय समाज की आंतरिक गतिकी के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है? शहरों में केवल शासक, सैनिक तथा धार्मिक और विद्वान लोग ही नहीं बसते थे, अपितु वहां शिल्पी, सौदागर और अनेक सेवक वर्ग भी रहते थे। यदि शहरों का पतन हुआ तो नगरवासियों का क्या हुआ, और वे अपनी आजीविका कैसे अर्जित करते थे? का नगरों के न्हास ने शासक वर्ग और राज्य के चरित्र को प्रभावित किया? शिल्पियों के हुनर का क्या उपयोग हुआ और उनके पारिश्रमिक का भुगतान कैसे होता था? नगरों के पतन ने कृषि के विस्तार की कहां तक सहायता की? सौदागरों और व्यापारियों ने किस हद तक और कब तक अपने परंपरागत व्यवसायों को

छोड़कर नए धंधे अपनाए? मठ, महाविहार और किलेबंद फौजी छावनियां (गैरिसन), जिनमें गैरकृषकों की प्रधानता थी, किस प्रकार आरंभिक ऐतिहासिक काल के नगरों से भिन्न थी? सबसे बढ़कर यह कि

नगरों के ज्हास और मध्यकाल के आरंभ में उभरती हुई सामंती व्यवस्था के बीच किस प्रकार का संबंध था? हमें प्रत्येक उत्खनित स्थल के पतन के चिह्नों की शिनाख्त करने और इन प्रश्नों में से कुछ के उत्तर देने का प्रयत्न करना होगा।

टिप्पणियां :

१. स्टुअर्ट पिगाँट, **सम एंशिअंट सिटीज ऑफ इंडिया**, पृ. १-२
२. दृष्टांत के लिए डी.बी. स्पूनर, 'द जोरोएस्ट्रियन पिरियड ऑव इंडियन हिस्ट्री', **द जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव गेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड**, १९१५, पृष्ठ ६३-८२ देखें।
३. सर जॉन मार्शल रचित **टैक्सिला** (तीन जिल्द) में यूनानी प्रीणाव पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है, यद्यपि अन्यथा यह उत्तम रिपोर्ट है।
४. बुलंदीबाग (पटना) के बारे में लिखते हुए स्पूनर कहते हैं : "यह स्थल स्पष्टतः छोटे-छोटे पुरावशेषों में समृद्ध है", **एनुअल रिपोर्ट ऑव द आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, ईस्टर्न सर्किल, फॉर १९१४-१५**, सुपरिटेण्डेंट्स रिपोर्ट, बाकीपुर, १९१५, पृ. ४९, लेकिन वे इन पर ध्यान नहीं देते।
५. ए.घोष और कृष्णदेव के लेखन-सहयोग के साथ आर.इ.एम हिलर 'अरिकमेडु : एन इंडो-रोमन रेंडिंग स्टेशन ऑन द ईस्ट कोस्ट ऑव इंडिया', **एंशिअंट इंडिया**, सं. २, १९४६, पृ. १७-१२४.
६. आर.एस.शर्मा, **मैटीरियल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशंस इन एंशिअंट इंडिया**, अध्याय २-४ और परिशिष्ट III
७. देश की विशालता को ध्यान में रखते हुए प्राचीन भारतीय शहर संख्या में बहुत अधिक नहीं लगते। रोमी साम्राज्य में लगभग १५०० शहर थे, जो

इटली, आइबेरिया के प्रायद्वीप पूर्वी प्रांतों और मिस्र को छोड़कर उत्तरी अफ्रीका के समुद्रतटीय क्षेत्र में फैले हुए थे (कीथ हॉपकिंस, 'इकॉनमिक ग्रोथ एंड टाउस इन क्लासिकल एटिक्विटी', **टाउस इन सोसाइटीज**, फिलिप एब्रम्स और इ.ए.रिग्ले, स.पृ.७०)। यद्यपि यह सूची अपूर्ण मानी जाती है, लेकिन भारत की तुलना में इससे भी कम संख्या चौंका देनेवाली जगती है। यह संभव है कि यदि केवल पुरातत्त्व का ही सहारा लिया जाए, तो रोमी शहरों की संख्या बहुत कम हो जाएगी। भारतीय साहित्यिक साक्ष्य से सहायता नहीं मिलती। सिकंदर ने अरिस्टोबुलुस को उस क्षेत्र में अधिकारी बनाकर भेजा था, जो सिंधु नदी के पूरब की ओर हट जाने से खाली हो गया था। अरिस्टोबुलुस ने वहां लोगों से भरे एक हजार से अधिक शहरों और गांवों के अवशेषों को देखा। यह संख्या अतिरजित हो सकती है, लेकिन फिर भी भारत और पाकिस्तान को उन बस्तियों के अवशेषों की शिनाख्त के लिए अपने प्रयासों को तेज करना होगा। भारतीय पुरातत्त्व में संरक्षण की व्यवस्था भी खराब है। "गच की हुई (पेव्ड) सड़कें, आदमकद प्रतिमाएं, छायादार स्तंभावलियां, मंदिर, व्यायामशालाएं, स्नानागार, झरने, नाट्यशालाएं, खुली रंगभूमियां और कृत्रिम जलसेतु प्राचीन नगरों के स्मारक अवशेष" माने जाते हैं। लेकिन इनकी तुलना में भारत के प्राचीन नगरीय स्मारक बड़े कंगाल दिखाई पड़ते हैं।

८. ए.घोष, **द सिटी इन अर्ली हिस्टोरिकल इंडिया**।
९. वही, पृ. २०-२१
१०. वाइ.डी.शर्मा, 'एक्सप्लोरेशन ऑव हिस्टोरिकल साइट्स', **ए आइ**, सं.९ १९५३, स्पेशल जुबली नंबर, पृ. ११६-६९, 'रिमेंस ऑव अर्ली हिस्टोरिकल सिटीज', **आर्कियोलॉजिकल रिमेंस, मान्युमेंट्स एंड म्यूजियम्स**, सं. : ए.घोष।
११. इन समस्या पर निम्नांकित रचनाओं में कुछ ध्यान दिया गया है: आर.एस.शर्मा, 'डिके ऑव गैजेटिक टाइम्स इन गुप्त एंड पोस्टगुप्त टाइम्स', **प्रोसीडिंग्स ऑव द इंडियन हिस्टरी कांग्रेस**, तैतीसवां अधिवेशन, मुजफ्फरपुर, १९७२, पृ. ९४-१०४; बी.डी. चट्टोपाध्याय, 'ट्रेंड एंड अर्बन सेंटर्स इन अर्ली मेडिवल इंडिया : एन आवरव्यू', **सिचुएटिंग इंडियन हिस्टरी**, सं.:एस.भट्टाचार्य और रोमिला थापर, १९८६, पृ. ८-३३; आर.एन.नंदी, 'क्लायंट, रिचुअल एंड कॉनफ्लिक्ट इन अर्ली ब्राह्मणीकल ऑर्डर', **आइ एच आर**, IV १९७९-८०, पृ. १०३-९; वी.के. ठाकुर, **अर्बनाइजेशन इन एंशिंट इंडिया**, १९८२ कामेश्वर प्रसाद, १९८४, **सिटीज, क्राफ्ट्स एंड कॉमर्स अंडर द कुषाणाज**।
१२. वी.गॉर्डन चाइल्ड, 'द अर्बन रिवाॅल्यूशन', १९५०; ग्रेगरी एल.पॉस्सेल (सं.), **एंशिंट सिटीज ऑव द इंडस**, पृ.१२-१७
१३. रॉबर्ट मैक एडम्स, 'द नेचुरल हिस्टरी ऑव अर्बनिज्म', १९६८, मॉस्सेल (सं.) : **एंशिंट सिटीज ऑव द इंडस**, पृ. १२-१७.
१४. **मयमत**, X पृ. ३४-३५, यह शब्द **बहुकर्मकारयुक्तम्** है। मानसार, X , पृ. ४२ भी देखें, जहां **बहुकर्मकारैर्युक्तं निगमं तदुदाहृतम्** लिखित है। निगम का अर्थ हाट अथवा सौदागरों का दल/कारवां है, मोनियर विलियम्स, **संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी**, प्रविष्टि 'निगम' देखें।
१५. प्रकारपरिखान्वित श्रेणिधर्मसंयुक्त संस्थानम्: पणिनि पर कैयट का भाष्य, VII, ३१४, I; इस हवाले के लिए मैं बी.एन.एस. यादव का आभारी हूं।
१६. ब्रह्मदत्त **सेट्लमेंट्स ऑव द पेंटेड गे वेयर इन हरियाणा**, अप्रकाशित पीएच.डी. शोध-प्रबंध, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, १९८०।
१७. ज्यांनी अबोयर, 'एंशिंट इंडियन आइवरीज फ्रॉम बेगराम, अफगानिस्तान', 'द जर्नल ऑव द इंडियन सोसाइटी ऑव ओरिएंटल आर्ट', पृ. ३४-४६'
१८. एच.बी.सरकार, **कल्चरल रिलेशंस बिटविन इंडिया एंड साउथ-ईस्ट एशियन कंट्रीज**, अध्याय ११, पृ. २४८ देखें। मलाया, पूर्वी जावा और उत्तरी बोर्नियो में प्राप्त अनेक मनकों को ईसा के पूर्व की सदियों के रोमी, हित्ती, तेनिसियाई और दक्षिण भारतीय स्रोतोंवाला, माना जाता है। भारतीय मनकों का व्यापार ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में जारी था, जैसाकि पांडीचेरी के निकट अरिकमेडु अथवा वीरपतनम् और कोचीन चीन के ओक इयो से बरामद पुरावशेषों से प्रमाणित होता है। भारतीय सौदागर को बदले में क्या मिलता था, इसकी जानकारी नहीं है।

जनपदयुगीन इतिहास जानने के स्रोत

लेखक - डॉ. श्रीराम गोयल,

प्राङ् मौर्य युग में लेखन-कला का अभाव

प्राचीन भारत का इतिहास, विशेषतः राजनीतिक इतिहास जानने के साधन अत्यल्प हैं। प्राचीन काल में हमारे देश में उस प्रकार से राजनीतिक इतिहास लिखने की प्रथा नहीं थी, जैसे आजकल लिखा जाता है। **आधुनिक अर्थ में लिखा गया प्रथम भारतीय इतिहास-ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' है,** जिसकी रचना कश्मीर में कल्हण नाम कवि ने बारहवीं शती ई. में की थी। इसके पूर्व भारत में जो भी इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये, उनके लेखकों का न तो दृष्टिकोण 'वैज्ञानिक' था और न उनका उद्देश्य उस प्रकार का राजनीतिक इतिहास लिखना था जैसा कल्हण ने लिखा। वे 'इतिहास' संज्ञा का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में करते थे। आजकल जिसे 'सामाजिक विज्ञान' कहते हैं स्थूलतः वही 'इतिहास' की परिभाषा थी। उदाहरणार्थ, कौटिल्य के अनुसार "पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र वे सभी इतिहास के विषय हैं" (पुराणमितिवृत्त-माख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्र-मर्थशास्त्रं, चैतीतिहासः) (अर्थशास्त्र, १.४ गैरोला का संस्करण, पृ.१९) उपरोक्त परिभाषा को मानने वाले देश में आधुनिक युग में 'वैज्ञानिक' कहे जाने वाले इतिहास विज्ञान का विकास हो ही कैसे सकता था?

जहां तक आभिलेखिक सामग्री का प्रश्न है, प्रस्तुत लेखक की दृष्टि से यही मान्यता कि जनपदकालीन एवं प्रारम्भिक मौर्ययुगीन भारतवासी (पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़ कर, जिसके निवासी ईरान के अधिकार में रहने के कारण विविध ईरानी लिपियों से परिचित रहे होंगे) लेखन-कला से परिचित थे, शंकास्पद है। सैन्धव-युग के अन्त (अट्टारहवीं शती ई.पू.) के उपरान्त भारत में मिले प्राचीनतम

अभिलेख अशोक के धर्मलेख (तीसरी शती ई.पू.) हैं। इस बीच में व्यतीत होने वाले लगभग डेढ़ सहस्र वर्षों का कोई अभिलेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। यह तथ्य चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में भारत आने वाले यूनानी राजदूत **मेगास्थेनिज** के साक्ष्य से पूर्णतः संगत है। स्ट्रेबो ने एक स्थल पर मेगास्थेनिज को इस प्रकार उद्धृत किया है: "मेगास्थेनिज कहता है कि जब वह मेण्डोकोट्टोस (चन्द्रगुप्त मौर्य) के दरबार में था, यद्यपि शिबिर की जनसंख्या चालीस हजार थी, उसने किसी दिन भी दो सौ द्रेखम से अधिक मूल्य की वस्तुओं की चोरी की रिपोर्ट नहीं सुनी और वह भी ऐसे लोगों के बीच में जो अलिखित कानूनों का प्रयोग करते हैं। क्योंकि, वह (अर्थात् मेगास्थेनिज) आगे कहता है, उनकी लेखन-कला का ज्ञान ही नहीं है और वे अपनी सभी बातों को स्मृति की सहायता से तय करते हैं।" (मजूमदार, क्लासिकल एकाण्ट्स ऑव इण्डिया, पृ.२१०)। मेगास्थेनिज के इस कथन को जब हम अशोक के पूर्व व्यतीत होने वाले डेढ़ सहस्र वर्षों में भारत में लिखित अभिलेखों के सर्वथा अभाव के साथ मिलते हैं। (बहुत से विद्वान सोहगीरा (उत्तर प्रदेश), से प्राप्त कांस्य-पत्र अभिलेख (ब्यूलर, आई.ए.अक्टूबर १८९६; जायसवाल, इ.आई., २२, पृ.१-३) एवं बंगाल से प्राप्त महास्थानगढ़ अभिलेख में (सरकार, स.इ.पू.७९) को चन्द्रगुप्त मौर्य के काल का अथवा उससे भी पुराना मानते हैं। कुछ विद्वानों ने बड़ली पाषाण अभिलेख (वही, पृ.८९) को प्राङ् मौर्य युग का माना है। परन्तु ये लेख तिथिविहीन हैं और किसी भी राजा का नाम से उल्लेख नहीं करते। अतः वे अशोककालीन अथवा उसके भी बाद के हो सकते हैं। **तो निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि**

प्राक्अशोकयुगीन भारतीय जन लेखन-कला से अपरिचित थे। प्रस्तुत लेखक ने अशोकीय ब्राह्मी लिपि का अध्ययन करके भी यह सिद्ध किया है कि वह लिपि तीसरी शती ई.पू. में ही आविष्कृत हुई थी। (दे., श्रीराम गोयल, का 'ब्राह्मी स्क्रिप्ट: एन इन्वेन्शन ऑव अर्ली मौर्य पीरियड', नामक लेख जो डॉ. एस.पी.गुप्त द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'ओरिजनल ऑव ब्राह्मी' में प्रकाश्य है।)। ब्राह्मी लिपि व संस्कृत व्याकरण के पारस्परिक सम्बन्ध में भी यही प्रमाणित होता है। यह सही है कि पालि त्रिपिटक में यत्र-तत्र ऐसे कथन मिलते हैं, जिनसे लेखन-कला के अस्तित्व का परिचय मिलता है। (यथा 'अक्खरिका' नामक खेल एवं पत्रों, लिखित आदेशों, घोषणाओं लेखनी आदि के उल्लेख से) परन्तु इस साहित्य की रचना बुद्ध के परिनिर्वाण (४८३ ई.पू.) के उपरान्त प्रारम्भ हुई थी और प्रथम शती ई.पू. में लंका में इसे प्रथम बार लेख बद्ध किए जाने के समय तक की जाती रही थी। अतः यह कहना असंभव है कि त्रिपिटक के वे अंश जिनमें लेखन-कला का उल्लेख है प्राक्अशोकीय ही हैं- वे अशोकोत्तर युगीन भी हो सकते हैं।

स्वयं पालि त्रिपिटक में भी इस बात के स्पष्ट व सबल संकेत उपलब्ध है कि अशोक से पूर्व भारत लेखन-कला से अपरिचित था। एक, 'विनयपिटक' के अनुसार प्रथम बौद्ध संगति परिनिर्वाण के तत्काल बाद तथागत के धम्म व विनय से संबन्धित उपदेशों को संगायना या मौखिक रूप से दोहरा कर सुरक्षित करने के लिए बुलाई गई थी। इस संगति में तत्कालीन युग के उच्चतम वर्ग के सदस्यों ने भाग लिया था। यह आयोजित ही की गयी थी मगध-नरेश अजातशत्रु के तत्त्वावधान में। स्पष्टतः तत्कालीन भारत में लेखन-कला ज्ञात होती तो इस संगीति के अधिकांश सदस्य साक्षर होते और वे निश्चित रूप से तथागत के उपदेशों को लिपिबद्ध करने की बात सोचते। यही बात दूसरी संगीति के बारे में कही जा सकती है जो कलाशोक के

तत्त्वावधान में प्रथम संगीत के सौ वर्ष उपरान्त, अर्थात् चौथी शती ई.पू. के प्रारम्भ में आयोजित की गयी। दूसरे, अगर बुद्धकाल में भारत के लोग लिखना जानते होते तो पुस्तकें बौद्ध भिक्षुओं के दैनिक जीवन में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण स्थान पाती; लेकिन विनय के नियमों में, जिनमें भिक्षुओं के लिए आवश्यक छोटी से छोटी वस्तुएँ- यथा उस्तरा, सुई, नहुत्रा, आदि तक- गिनाई गई हैं, **मसिपात्र, लेखनी, पुस्तकों और पाण्डुलिपियों का उल्लेख कही नहीं आता।** इनका उल्लेख उन वस्तुओं की सूची में भी नहीं मिलता, जो उपासक तो रख सकते थे, भिक्षु नहीं। अगर बुद्धकालीन भारतीय जनता पुस्तकों से परिचित होती तो यह बात असम्भव थी। तीसरे, स्वयं त्रिपिटक से स्पष्ट है कि इसके रचयिताओं के मन में किसी सुत्त को लिपिबद्ध करने का विचार तक नहीं आया। यहां तक कि सामान्य जनों द्वारा भी किसी सुत्त को लिपिबद्ध करने की सम्भावना भी उनके मन में नहीं आई। उदाहरणार्थ, एक नियम के अनुसार भिक्षु लोग वर्षावास के समय नगर में नहीं जा सकते थे, परन्तु कोई मरणासन्न उपासक उनके पास अगर यह समाचार भेजना था कि उसे कोई सुत्त याद है जो अन्य जनों को ज्ञात नहीं है और इसलिए उसके मरने के साथ उसके विस्मृत हो जाने की आशंका है, तब संघ की ओर से कोई भिक्षु उस सुत्त को सीखने के हेतु नगर में वर्षावास काल में भी भेजा जा सकता था। इसी प्रकार एक नियम के अनुसार अगर किसी विहार में कोई ऐसा भिक्षु नहीं होता था जिसे पातिमोक्ख के नियम याद हों, तो संघ की ओर से कोई भिक्षु पड़ोस के किसी विहार में जाकर उन नियमों को याद करके आता था। त्रिपिटक के अन्य कई स्थलों पर इस प्रकार के कथन मिलते हैं जिनसे स्पष्ट है कि यह साहित्य, शब्द-सूचियों और कोशों सहित, सम्पूर्णतः कण्ठस्थ रखा जाता था। उदाहरणार्थ, 'अंगुत्तर' ३.१०७ में कहा गया है कि अगर भिक्षुगण केवल काव्यात्मक और रोचक सुत्तों को ही याद रखेंगे

और गम्भीर अर्थ वाले सुक्तों की ओर ध्यान नहीं देंगे तो सद्धर्म की हानि होगी। इसी प्रकार 'अंगुत्तर' २०.१४७ में कहा गया है कि जिन भिक्षुओं को बहुत से सुक्त कण्ठस्थ हैं, वे अगर उन्हें दूसरों को स्मरण नहीं कराएंगे तो वे सुक्त उनके साथ विलुप्त हो जाएंगे, जिससे सद्धर्म को हानि पहुंचेगी। 'अंगुत्तर' ५.१३६ के अनुसार विद्वत्ता का विकास बार-बार दोहराने से होता है। यहां भी पुस्तकों का उल्लेख न किया जाना महत्वपूर्ण है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि पालि त्रिपिटक की रचना के समय भारतीय समाज लेखन-कला से विहीन था। अब, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पालि त्रिपिटक की रचना परिनिर्वाण था। अब, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पालि त्रिपिटक की रचना परिनिर्वाण (४३८ ई.पू.) से लेकर लंका-नरेश बट्टगामिणी के शासन काल (२७ ई.पू.) के बीच में हुई। अशोक का समय (तीसरी शती ई.पू.) जब भारतीय समाज शिक्षित होने लगा, इस दोनों तिथियों के मध्य पड़ता है। अतः निष्कर्ष अनिवार्य है कि त्रिपिटक के जो अंश समाज के निरक्षर होने का संकेत देते हैं वे प्राक्अशोकीय युग के और जो अंश लेखन-कला से परिचय प्रकट करते हैं, वे अशोकोत्तर युग के हैं। स्पष्टतः समाज के साक्षर हो जाने के बाद ऐसी बातें इस साहित्य में नहीं जोड़ी जा सकती थीं, जिनसे लेखन-कला का अनस्तित्व संकेतित होता है।

बहुत से विद्वान वेदोत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के बहुत से ग्रन्थों को -जैसे, पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' तथा गौतम, विष्णु व वशिष्ठ के धर्मसूत्र, जो लेखन-कला से परिचित है- अशोक के पूर्व लेखन-कला के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत करते हैं। इनमें पाणिनि (५ वीं शती ई.पू.) पश्चिमोत्तर प्रदेश के शलातुर स्थान के निवासी थे जहां उस युग में ईरान के साखामनीषी सम्राटों का प्रभुत्व था। इसलिए वह ईरानी प्रजा रहे होंगे और खरोष्ठी, एरेमाइक एवं ईरानी लिपियों से उनका परिचय

रहा होगा। लेकिन उनका लेखन-कला से परिचय यह प्रमाणित नहीं करता कि शेष भारत के लोग भी साक्षर थे, उसी प्रकार जैसे तत्कालीन यूनानियों का साक्षर होना यह प्रमाणित नहीं करता कि उस युग के स्पेनी तथा फ्रांसीसी भी लिखना जानते थे। जहां तक कौटिल्य के अर्थशास्त्र का प्रश्न है, बहुत से विद्वान जैसे वरुआ, रायचौधुरी, जॉली, कीथ, टी.बरो, भाण्डारकर आदि इसे मौर्योत्तरयुगीन रचना मानते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक (दे. गोयल, एस.आर, 'द रिडिल ऑव चाणक्य एण्ड कौटिल्य,' जिज्ञासा, जयपुर, १, अंक ३-४ पृ. ३२-५१। इसे स्थूलतः उस युग की रचना मानता है जब वात्स्यायन ने अपना 'कामसूत्र' लिखा अर्थात् लगभग ३०० ई. के आसपास की। जहां तक धर्मसूत्रों की बात है, इन की तिथियां सर्वथा अनिश्चित हैं। अधिकांश विद्वान् इनकी रचना ईसवी सन् के कुछ ही पूर्व समाप्त हुई मानते हैं। अतः इन ग्रन्थों से प्राक्अशोकीय युग में लेखन-कला का प्रचलन प्रमाणित नहीं होता।

जहां तक वैदिक साहित्य का प्रश्न है, यह बात सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि **वैदिक ग्रन्थों में लेखन-कला का उल्लेख प्रत्यक्षतः कहीं भी नहीं हुआ है।** जो विद्वान वैदिक भारत में लेखन-कला का प्रचलन मानते हैं, वे भी केवल यही तर्क देते हैं कि वैदिक साहित्य में विविध प्रकार के छन्दों के प्रयोग, बड़ी-बड़ी संख्याओं के उल्लेख तथा ऐसे ही अन्य तथ्यों से यह संकेत मिलता है कि वैदिक आर्य लिखना जानते थे। परन्तु इन परोक्ष प्रमाणों से इतना महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा, विशेषतः जब हम जानते हैं कि वैदिक काल में और उसके बाद भी **आर्यों की शिक्षा-प्रणाली प्रकृत्या मौखिक-गुरु-शिष्य परम्परा पर निर्भर थी। दूसरे, स्वतंत्र भारत में वैदिकयुगीन स्थलों का काफी उत्खनन हुआ है, परन्तु कहीं से भी कोई अभिलेख क्या मिट्टी का ऐसा ठीकरा भी नहीं मिला है जिस पर कोई अक्षर खुदा**

हो। तीसरे, बौद्ध साहित्य से प्रमाणित है कि बुद्ध के युग में भी विद्या का आदान-प्रदान मौखिक रूप से होता था। बाद में भी 'मुखस्थाविद्या' ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही, 'बहु-श्रुत' (जिन्होंने बहुत सुना है) लोगों को विद्वान माना जाता रहा और जब पुस्तकें लिखी जाने लगी तो उन्हें 'सरस्वतीमुख' कहा गया। ये सब तथ्य प्राकृशोकीय भारतीयों को लिपिविहीन सिद्ध करते हैं।

पुरातात्विक सामग्री

जनपदकालीन अभिलेख उपलब्ध न होने के कारण इस युग के इतिहास के लिए हमें पुरातात्विक साक्ष्य एवं साहित्य पर निर्भर रहना पड़ता है। इनमें पुरातात्विक सामग्री प्रधानतः कौशाम्बी, हस्तिनापुर, आदि जनपदयुगीन नगरों के अवशेषों के रूप में हैं। परन्तु इससे राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण में बिल्कूल सहायता नहीं मिलती। जहां तक मुद्राओं अर्थात् सिक्कों का सम्बन्ध है, भारत में प्राङ् मौर्य और मौर्ययुगीन सुवर्ण मुद्राएं 'निष्क' और 'सुवर्ण' कहलाती थीं, रजन मुद्राएं 'कार्याषण' और 'धरण' या 'पुराण' तथा ताम्रमुद्राएं 'कार्षापण'। इनकी कम या अधिक भार वाली कई प्रकार की इकाइयां प्रचलित थीं। इनमें रजत मुद्राओं की पहिचान लगभग समस्त भारत से प्राप्त आहत मुद्राओं (पंच मार्कड क्वायन्स) से की जाती है, जिनमें कुछ की प्राङ् मौर्ययुगीन माना जाता है, कुछ को मौर्ययुगीन तथा शेष को मौर्योत्तर (ए.न.मौ.पृ. २८०)। लेकिन इन मुद्राओं पर लेख अंकित न होने के कारण इनका उपयोग राजनीतिक इतिहास के अध्ययन में करना सम्भव नहीं है।

जनपदयुगीन इतिहास के लिए कुछ विदेशी पुरातात्विक एवं अभिलेखिक सामग्री भी उपयोगी है। इनमें सर्वप्रथम ईरानी अभिलेखों का उल्लेख किया जा सकता है। जैसा की सर्वज्ञात है, छठी शती ई.पू. में ईरान में साखामनीषी वंश ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। इसमें भारत के कुछ प्रदेश भी सम्मिलित

कर लिए गए। इस तथ्य का रोचक उल्लेख ईरानियों के पार्सिपॉलिस, नाकश-ए-रुस्तम तथा अन्य अभिलेखों में मिलता है। ईरानियों ने भारत में अपनी मुद्राओं का प्रचलन भी किया, जिनके नमूने पश्चिमोत्तर प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। ईरानियों की सुवर्ण मुद्राएं 'डेरिक' कहलाती थी। इनका भार लगभग १३० ग्रेन होता था। कुछ सिगलोई पर आहत सिक्कों के चिह्न अंकित मिले हैं, (कै.हि.इ.पृ. ३०७-८)। सिकन्दर के काल में भारतवासी यूनानी सिक्कों से भी परिचित और प्रभावित हुए।

साहित्यिक साक्ष्य : ब्राह्मण ग्रन्थ

यद्यपि जनपदयुगीन अभिलेख एवं इस युग का वैज्ञानिक रूप से वर्णन करने वाले इतिहास-ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु ऐसी बहुत-सी साहित्यिक सामग्री प्राप्त है जिसका उपयोग इस युग का इतिहास लिखने में किया जा सकता है। इसकी सुविधार्थ ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तथा क्लासिकल इन चार भागों में बांटा जा सकता है। ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत पाणिनि की 'अष्टाध्यायी,' सूत्र ग्रन्थ, 'महाभारत' तथा पुराण आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' एक व्याकरण ग्रन्थ है। वा.श. अग्रवाल के अनुसार इसकी रचना पांचवी शती ई.पू. के मध्य हुई थी (अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत, अध्याय ८, पृ. ४६३)। इसमें पाणिनिकालीन जनपदों का रोचक वर्णन मिलता है। सूत्र ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'बौधायन धर्मसूत्र' है, जिसकी रचना ६०० से १०० ई.पू. के बीच कभी हुई होगी। इसमें तत्कालीन राजनीतिक भूगोल विषयक महत्त्वपूर्ण सूचनाएं सुरक्षित हैं। 'महाभारत' और पुराणों में भी जनपद सूचियां अनेकत्र मिलती हैं। पुराणों के 'भुवनकोष' नामक अध्याय जनपदों का अध्ययन करने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यह सामग्री प्रायः गुप्तकालीन राजनीतिक भूगोल का परिचय देती है, प्राङ् मौर्ययुगीन स्थिति का नहीं। इनसे अधिक महत्त्वपूर्ण

हैं पुराणों की वंशावलियाँ। परीक्षित से लेकर नन्द वंश तक का मगध, वत्स व कौसल का पुराणों में प्रदत्त इतिहास व तिथिक्रम अत्यन्त उपयोगी है। यह सही है कि यह तिथिक्रम अनेक अशुद्धियों से परिपूर्ण है, परन्तु अब इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि पुराणों से जनपदकालीन इतिहास के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त की जा सकती हैं।

बौद्ध और जैन ग्रन्थ

छठी शती ई. पू. और उसके बाद के राजनीतिक इतिहास पर सर्वोत्तम प्रकाश जैन और बौद्ध ग्रन्थों से मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ दो प्रकार के हैं— एक, मौलिक और आधारभूत ग्रन्थ, जिनमें पालि त्रिपिटक के ग्रन्थ सम्मिलित हैं तथा दूसरे, सहायक और गौण ग्रन्थ जिनके अन्तर्गत त्रिपिटक की अट्ठकथाएँ आती हैं। **राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से पहला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अंगुत्तर निकाय' है**, जिसमें बुद्धकाल के सोलह महाजनपदों की सूची दी गई है। इस सूची को कुछ भेद के साथ 'चुल्लनिन्देस' में दोहराया गया है। 'दीर्घनिकाय' के 'जनवसभ सुत्त' में दस जनपदों का जोड़ों के रूप में उल्लेख है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के 'महागोविन्द सुत्तन्त' में जनपदों की स्थापना के विषय में एक रोचक कथा मिलती है। 'अंगुत्तर निकाय' की जनपद-सूची को कुछ अन्तर के साथ 'महावस्तु' में भी दोहराया गया। जैन ग्रन्थ 'भगवती सूत्र' में भी **सोलह महाजनपदों** की एक सूची मिलती है। इस प्रकार बौद्ध और जैन ग्रन्थों के सम्मिलित साक्ष्य से जनपदयुगीन राजनीतिक स्थिति विस्तृतरूपेण ज्ञात हो जाती है।

बौद्ध व जैन साहित्य मगध, कोसल, वत्स, अवन्ति व अन्य कुछ राज्यों के इतिहास पर विस्तृत सूचनाएं देते हैं— विशेषतः मगध के इतिहास पर। क्योंकि बुद्धोत्तर काल में अन्ततोगत्वा मगध ने ही साम्राज्य-स्थापन में सफलता पाई। इसलिए पुराणों के समान **बौद्ध ग्रन्थों में भी मगध का इतिहास विस्तरशः**

दिया गया है। इनमें इस प्रदेश के विभिन्न राजवंशों का तिथिक्रम भी दिया गया है जो पुराणों के तिथिक्रम से भी अधिक सही है। इस विषय में हमारी सहायता 'दीपवंस,' 'महावंस,' 'दिव्यावदान' आदि बौद्ध ग्रन्थ भी करते हैं। इनकी कुछ और चर्चा आगे की गई है।

नन्द-मौर्य कथा-चक्र

जनपद युग के अन्त में नन्दवंश ने शासन किया। उसका उन्मूलन चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने किया था। अब, भारतीय साहित्य में नन्द-मौर्य कथा के कई चक्र मिलते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका सबसे रोचक और प्राचीनतम रूप 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक में उपलब्ध है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रकृत्या एक नाटक है और वह भी नन्दों के कम से कम सात सौ वर्ष बाद लिखा हुआ ('मुद्राराक्षस' की तिथि पर सन्दर्भों के लिए दे., गोयल 'ए हिस्ट्री ऑव द इम्पीरियल गुप्तज,' पृ. २२४, टि. २: बुद्ध प्रकाश, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन, पृ. १३५, टि. १, एस.के.दे, बी.सी. लाहा वॉल्यूम, १, पृ. ५० अ.)। दूसरे, इस ग्रन्थ में लिखी हुई बहुत-सी बातें निश्चय ही गलत हैं। उदाहरणार्थ, इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य को नन्द वंश से सम्बन्धित बताया गया है, जो निश्चय ही अशुद्ध परम्परा है। इसलिए हमारा विचार है कि 'मुद्राराक्षस' की सामग्री को प्राचीन साक्ष्य के साथ संगत होने पर समर्थक प्रमाण के रूप में ही प्रयुक्त करना श्रेयस्कर होगा, मूल साक्ष्य के रूप में प्रयुक्त करना नहीं।

नन्द-चन्द्रगुप्त विषयक कथा का एक चक्र सोमदेव के ग्रन्थ 'कथासारित्सागर' में मिलता है। यह ग्रन्थ गुणाढ्य की 'गृहत्कथा' आजकल उपलब्ध नहीं है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि 'कथासारित्सागर' में प्रदत्त नन्द-चन्द्रगुप्त कथा मूल 'गृहत्कथा' में थी या नहीं। हो सकता है इसे 'गृहत्कथा' में, जिसमें गुणाढ्योत्तर युग में बहुत-सी कथाएं जोड़ी गई थी, गुप्तकाल में या उसके बाद जोड़ दिया गया हो। कम से

कम इतना निश्चित है कि सोमदेव ने इस कथा को जिस रूप में लिखा है, वह इसके अत्यन्त विकसित रूप का परिचायक है।

ब्राह्मण साहित्य में नन्द-चन्द्रगुप्त कथा-चक्र का बराबर विकास होता रहा। उदाहरणार्थ, 'मुद्राराक्षस' एवं 'विष्णुपुराण' के ऊपर लिखित टीकाओं में नन्दों और चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में कुछ नवीन सूचनाएं - अधिकतर अशुद्ध- जोड़ दी गईं। इस प्रसंग में 'विष्णुपुराण' का टीकाकार रत्नगर्भ (इसकी तिथि अज्ञात है) और 'मुद्राराक्षस' की 'मुद्राराक्षस व्याख्या' नामक टीका का लेखक 'धुण्डिराज' (१७१३-१४ ई.) विशेषतः उल्लेखनीय हैं। धुण्डिराज द्वारा प्रदत्त सूचनाओं का समर्थन महादेव की 'मुद्राराक्षस कथा' 'रविनर्तक उर्फ इर्वी चाक्यर की चाणक्य कथा' (१६१५ ई.), तथा अनन्त कवि की 'राक्षसपूर्वकथा' (लगभग १६६० ई.) तथा 'पूर्व पीठिका' (जिसे स्वयं धुण्डिराज ने उद्धृत किया है) से होता है। लेकिन इन ग्रन्थों में प्रदत्त अनुश्रुतियां प्राचीनतर क्लासिकल, बौद्ध, जैन एवं स्वयं ब्राह्मण परम्पराओं के विरुद्ध होने के कारण त्याज्य मानी जाती हैं।

नन्दवंश के उन्मूलन और मौर्यवंश की स्थापना से सम्बन्धित बहुत-सी कथाएं बौद्ध और जैन साहित्य में उपलब्ध हैं। बौद्ध ग्रन्थों में इन कथाओं का प्राचीनतम रूप सिंहली ग्रन्थों में मिलता है। अशोक द्वारा सिंहल (लंका) में बौद्ध धर्म का प्रचार किए जाने के बाद वहां के नगर अनिरुद्धपुर में 'महाविहार' और 'उत्तर विहार' नाम के दो प्रसिद्ध विहार स्थापित हुए। इनके स्थविरों ने कुछ ऐसे ग्रन्थों की रचना की जिनमें बौद्ध धर्म ने लंका प्रवेश और प्रसार का और प्रसंगवशात् मौर्य वंश तक का इतिहास दिया गया था। इनमें प्रथम शती ई. में रचित 'सिंहली अट्टकथा' और 'उत्तर विहार अट्टकथा' (अट्टकथा=अर्थकथा) अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। ये ग्रन्थ आजकल अनुपलब्ध हैं, परन्तु विश्वास किया जाता है कि इनकी सामग्री के आधार पर ही 'दीपवंस' और

'महावंस' की रचना हुई थी। 'दीपवंस' के लेखक का नाम अज्ञात है। यह पालि भाषा में लिखित काव्य ग्रन्थ है और इसकी तिथि लगभग चौथी शती ई. मानी जाती है। 'महावंस' की रचना महानाम नामक विद्वान् ने अपेक्षया अधिक परिष्कृत पालि भाषा में पांचवीं छठी शती ई. में की थी। नन्द-मौर्य वंशों के इतिहास के लिए इन दोनों ग्रन्थों का बड़ा योग है। इसे "वंसत्थप्पकासिनी" भी कहा जाता है। इसकी रचना आठवीं-नवीं शती ई. में हुई थी। 'महाबोधिवंस' (नवीं-दसवीं ई. नामक) ग्रन्थ में अनुराधपुर (लंका) में आरोपित बोधिवृक्ष की कथा दी गई है। प्रसंगवशात् इसमें अशोक के पूर्वजों का वर्णन भी किया गया है। इसका लेखक उपतिस्स नामक भिक्षु था। नन्द-चन्द्रगुप्त और कथा के लिए एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। 'मोग्गल्लान का महावंस' जो 'कम्बोडियायी महावंस' भी कहलाता है। (दसवीं-ग्यारहवीं शती ई.)

अन्य पालि बौद्ध ग्रन्थों में जो नन्द-मौर्य युग पर प्रकाश देते हैं 'मिलिन्द पञ्चो' उल्लेखनीय है। इसमें द्वितीय शती ई.पू. में शासन करने वाले यवनराज मिनेण्डर और बौद्ध विद्वान् नागसेन का वार्तालाप दिया गया है। प्रसंगवशात् इसमें चन्द्रगुप्त और नन्दों से सम्बन्धित कथाएँ भी दे दी गई हैं।

बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रन्थों में, जिनमें नन्द-चन्द्रगुप्त विषयक सामग्री मिलती है, सर्व प्रथम 'दिव्यावदान' उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ नेपाल में मिला था। इसका लेखक, जिसका नाम अज्ञात है, तीसरी ई. के लगभग रखा जा सकता है। साहित्यिक दृष्टि से यह एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है। दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प है। इसमें १००५ श्लोक हैं, जो पौराणिक शैली में लिखे गए हैं। ग्यारहवीं शती ई. में इस ग्रन्थ का अनुवाद कुमारकलश नामक विद्वान् ने तिब्बती भाषा में किया था। आजकल इसके संस्कृत व तिब्बती दोनों संस्करण मिलते हैं। इसमें नन्दों, चन्द्रगुप्त, चाणक्य और बिन्दुसार आदि के विषय में

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचनाएं सुरक्षित हैं।

जहां तक जैन साहित्य का सम्बन्ध है, नन्द-मौर्य युग से सम्बन्धित कथा सामग्री 'उत्तराध्यायन सूत्र,' 'आवश्यकसूत्र,' 'दशवैकालिकसूत्र,' 'निशीथसूत्र' तथा 'बृहत्कल्पसूत्र' पर भद्रबाहु नामक आचार्य ने (जो सम्भवतः श्रुत केवली भद्रबाहु से भिन्न थे; लगभग आइवीं शती ई.) निज्जूति (निर्युक्ति) लिखी तथा संघदासगणिकमाश्रमण ने भाष्य की रचना की। इन ग्रन्थों में नन्द-मौर्य इतिहास पर सामग्री विशेषतः मिलती है। 'आवस्स्य सुत्त' की, जो श्वेताम्बरों का दूसरा मूलसुत्त है, निज्जूति की चुण्णि (आवस्स्य चुण्णि) में भी चन्द्रगुप्त-चाणक्य कथा विद्यमान थी। उस पर विद्याधर गच्छ के हरिभद्र नामक आचार्य ने आइवीं शती में संस्कृत में 'आवश्यकसूत्रवृत्ति' नामक विस्तृत टीका लिखी, जो नन्द-मौर्य इतिहास के लिए बड़ी उपयोगी है। उनके लगभग तीन शती उपरान्त देवेन्द्रगणि ने श्वेताम्बरों के प्रथम मूलसुत्त 'उत्तरज्झयण सुत्त' अथवा 'उत्तराध्यायनसूत्र' पर प्राकृत भाषा में 'सुखबोधा' (१०८३ ई.) नामक टीका लिखी, जो 'आवस्स्य चुण्णि' पर आधारित थी। 'दशवैकालिक सूत्र' और 'निशीथ सूत्र' की निर्युक्तियों, चूण्णियों तथा टीकाओं में भी चन्द्रगुप्त-चाणक्य कथा विषयक कुछ सामग्री मिलती है।?

'आवस्स्य चुण्णि' की कथा का ही कुछ भिन्न रूप हमें श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्रके संस्कृत काव्य 'परिशिष्ट पर्व' में मिलता है। वह गुजरात नरेश जय सिंह सिद्धराज (१०९४-११४३) तथा कुमारपाल (११४३-७४) के समकालीन और कुमारपाल के गुरु थे। उन्होंने 'त्रिषष्टिशलकापुरुषचरित' नाम का विशाल ग्रन्थ लिखा था, जिसमें दस पर्व या खण्ड और ३४,००० श्लोक थे। इसमें उन्होंने ६३ महापुरुषों (२४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बल्देव तथा ९ प्रतिवासुदेव) का वृत्तान्त लिखा। ये सब महापुरुष महावीर के समय तक हुए। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट रूपी

पर्व में उन्होंने २७६ श्लोकों में महावीरोत्तर महापुरुषों का वर्णन किया। इसे 'परिशिष्टपर्व' या 'स्थविरावलीचरित' कहते हैं। इसमें उन्होंने नन्द वंश से सम्बन्धित चन्द्रगुप्तचाणक्य कथा भी दी है जो उनके काल में प्रचलित कथाओं पर आधारित रही होगी।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों में रत्ननन्दि का 'भद्रबाहुचरित' सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। यह सम्भवतः १७वीं शती ई. की रचना है। इसमें चन्द्रगुप्त-भद्रबाहु कथा विस्तृत रूप से मिलती है। मुहम्मद तुगलक की राजसभा की सुशोभित करने वाले आचार्य जिनप्रभसूरि के 'विविधतीर्थकल्प' के एक भाग 'पाटलिपुत्रनगरकल्प' में भी चाणक्य द्वारा नन्दों के विनाश से लेकर परवर्ती मौर्य राजाओं तक का वर्णन है। मेरुतुंग नामक आचार्य का समय भी १४ वीं शती ही है। उनके ग्रन्थ 'विचारश्रेणी' में महावीर के उपरान्त हुए राजाओं और जैनाचार्यों का वर्णन मिलता है।

जैन साहित्य के अन्तर्गत पट्टवालियों का उल्लेख भी आवश्यक है, जो श्वेताम्बर ओर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में मिलती हैं। इनमें बताया गया है कि किस जैन संघ या गण में किस समय कौन व्यक्ति आचार्य या स्थविर था। प्रसंगवशात् इनमें कहीं-कहीं राजाओं की भी चर्चा कर दी गई। नन्द-मौर्य इतिहास के लिए भी ये पट्टवालियां बड़ी उपयोगी है।

दिगम्बर साहित्य के कथा ग्रन्थों में भी नन्दों एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में सामग्री मिलती है। इस वर्ग के ग्रन्थों में हरिषेण का 'बृहत्कथाकोष,' प्रभाचन्द्र का 'आराधनासत्कथा प्रबन्ध' श्रीचन्द्रकृत 'कथाकोष' और नेमिदत्त का 'आराधनाकथा कोष' उल्लेख हैं। हरिषेण का 'बृहत्कथाकोष' (९३१ ई.) एक संस्कृत काव्य है। इसके 'भद्रबाहु कथानकम्' में चन्द्रगुप्त के समय में पड़े द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष और चन्द्रगुप्त के जैन धर्म ग्रहण करने एवं दक्षिण जाकर तप करने का विस्तृत वृत्तान्त दिया गया है। नेमिदत्त का 'आराधनाकोष'

सोलहवीं शती का संस्कृत काव्य हैं, दसवीं से सोलहवीं शती ई. के मध्य रखे जाते हैं। (दे., विण्टरनिट्ज, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, २, पृ. ५४४)। इनके अतिरिक्त रामचन्द्र मुमुक्षू के 'पुण्याश्रवकथाकोष' (सोलहवीं शती ई.) में भी नन्द-चन्द्रगुप्त कथाचक्र उपलब्ध हैं।

उपर्युक्त सब कथाकोषों की रचना मध्यकाल में हुई, परन्तु इनका मूल पर्याप्त प्राचीन माना जाता है। विश्वास किया जाता है कि इनका स्रोत लगभग प्रथम शती ई. में शिवार्य (या शिवकोटि) द्वारा रचित भगवती आराधना (या मूलाराधना) नामक प्राकृत काव्य था, जो स्वयं इससे भी प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा गया था। इन अनुश्रुतियों का प्राचीनतम रूप उन पड़णों या (प्रकीर्णकों) में पाया जाता है जो श्वेताम्बर, जैन आगमक के परिशिष्ट भाग के रूप में हैं। 'पड़ण' संख्या में दस हैं, परन्तु इनमें दो में - 'भक्त पड़णा' तथा 'संथार पड़णा' में - चाणक्य की कथा बीज रूप में मिलती है। इनमें भी चाणक्य को जैन मुनि कहा गया है। पड़णों का रचना काल निश्चित नहीं है, पर ये प्रथम शती ई. पू. तक अवश्य ही अस्तित्व में हा चुके थे। (चटर्जी, पूर्वो.)।

दिगम्बर साहित्य के अन्य ग्रन्थों में जिनका सम्बन्ध नन्द-मौर्य इतिहास से है वृषभाचार्य की 'तिलोय पण्णत्ति' (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) उल्लेखनीय है। इसकी रचना तीसरी शती ई. पू. में हुई मानी जाती है। इसमें चन्द्रगुप्त को जैन धर्म स्वीकार करने वाले मुकुटधारी राजाओं में अन्तिम बताया गया है। इनके अतिरिक्त 'हरिवंश पुराण,' 'धवला,' 'जयधवला' (जो आठवीं शती ई. की रचनाएं हैं) तथा 'उत्तरपुराण' तथा 'त्रिलोक सार' (दसवीं शती ई.) में भी थोड़ी-बहुत नन्द-मौर्य सामग्री मिलती है।

क्लासिकल साहित्य :

भारत पर यूनानियों का प्रथम आक्रमण सिकन्दर के काल में हुआ, परन्तु भारत से उनका परिचय उसके पूर्व भी था। यही कारण है कि पाइथेगोरस जैसे यूनानी दार्शनिकों पर उपनिषदीय दर्शन का प्रभाव मिलता है। यूनानियों का भारत से यह सम्पर्क ईरान के माध्यम से हुआ था, जिसके साम्राज्य की सीमाएं पूर्व में सिन्धु प्रदेश तक और पश्चिम में यूनान तक विस्तृत थीं। साखामनीषी सम्राट् दारयवहुष का नौ-सेनाध्यक्ष स्काइलैक्स प्रथम यूनानी था, जिसने न केवल सिन्धु प्रदेश का अन्वेषण किया (५०९ ई. पू.) वरन् भारत पर एक ग्रन्थ की रचना भी की। ५०० ई. पू. के लगभग मिलैटस के हिकेटियस ने संसार के भूगोल पर एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें भारत का वर्णन भी किया गया था। ये दोनों ग्रन्थ आजकल अप्राप्य हैं। परन्तु 'इतिहास-पिता' हेरोडोटस (४८४-४२५ ई. पू.) का ग्रन्थ 'इतिहास' जिसमें भारत का वर्णन भी है, आजकल उपलब्ध है। उसके उपरान्त टीसियस ने, जो साखामनीषी सम्राट् अर्तक्षयार्षा के पास ४१६ से ३९८ ई. पू. तक रहा, भारत का वृत्तान्त लिखा, परन्तु उसके ग्रन्थ के कुछ उद्धरण ही अब अबशिष्ट हैं।

चौथी शती ई. पू. में भारत पर सिकन्दर ने आक्रमण किया, उसके साथ आए हुए नियर्कस, एरिस्टोबुलस, क्लिटार्कस तथा ओनेसिक्रिटस नामक सेनापतियों ने इस आक्रमण के विविध पक्षों का वर्णन किया। इन लेखकों के ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु परवर्ती यूनानी व रोमक लेखकों-यथा डायोडोरस, प्लुटार्क, स्ट्रेबो, कर्जियस, एरियन आदि-ने इनके जो अंश उद्धृत किए हैं अथवा उनके आधार पर सिकन्दर के आक्रमण व जीवन का जो वृत्तान्त लिखा है, वे उपलब्ध हैं। इन समस्त यूनानी ग्रन्थों से हम न केवल भारत पर सिकन्दर के आक्रमण का वृत्तान्त जान पाते हैं वरन् जनपदयुगीन संस्कृति के भी बहुत से महत्वपूर्ण पक्षों से परिचित होते हैं।

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर जयन्ती 'विद्यार्थी दिन' के उपलक्ष्य में मनायी जाय

- कृष्णराव हणवते

22, अध्यापक नगर

(मानेवाडा रिंग रोड), पो. म्हालगीनगर,
नागपुर-34, मोबाईल क्र. 9689640091

भारतीय समाज अनेक प्रकार के दिन विशेष बड़े ही उत्साह एवं स्वयंस्फूर्ती से मनाते है। उससे उन्हें नई ऊर्जा और नई प्रेरणा प्राप्त होती है। इसी ऊर्जा और प्रेरणा से ही वे अपनी जीवनशैली सही मायने में परिवर्तित करते है। इसी नजरिए से इन दिन विशेषों का महत्व हमारी समझ में आयेगा। हम महिला दिन, ग्राहक दिन, पर्यावरण दिन, ध्वजदिन, शिक्षक दिन, प्रजासत्ताक दिन, स्वतन्त्रता दिन आदि राष्ट्रीय स्तर पर मनाया करते है। उसी प्रकार महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, स्वामी विवेकानंद, संत गाडगे महाराज, राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज, डॉ. पंजाबराव देशमुख, कर्मवीर भाऊराव पाटील, राजश्री शाहू महाराज, महात्मा ज्योतिबा फुले, क्रान्तिज्योती सावित्रीमाई फुले आदि समाज सुधारक के जन्म दिन बड़े ही जोश के साथ मनाने में हम अक्सर पहल करते हैं। भारतीय समाज विश्व रत्न डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर की जयन्ती भी बड़े ही उत्साह और तन, मन, धन के साथ मनाते है। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने स्वतन्त्र भारत का संविधान लिखकर लोकतन्त्र पद्धति से शासन प्रणाली चलाने का मार्ग तैयार करके दिया, इसलिए भारत समान विशाल देश की शासन प्रणाली सरलता से चल रही है। डॉ. अम्बेडकर की शिखिसयत कायदेतज्ञ, अर्थतज्ञ, शिक्षणतज्ञ, राजनीतिज्ञ, घटनातज्ञ, समाजशास्त्रज्ञ, धर्मशास्त्रज्ञ, ज्येष्ठ पत्रकार, महान देशभक्त और युगप्रवर्तक की थी। उनके इस सम्पूर्ण व्यक्तित्व का पुननिरीक्षण करके सरकार ने उनके जयन्ती पर छुट्टी भी जाहीर की है। पाठशाला, महाविद्यालय, प्रशिक्षण संस्था और शिक्षा संस्था में भी उनकी जयन्ती बड़े उमंग के साथ मनाई जाती है। अस्पृश्य समाज में उनका जन्म होने से और अस्पृश्यों को उन्होंने विज्ञान पर निर्भर बौद्ध धम्म की दिक्षा देने से उनमें मौलिक

बदलाव हुआ, और समाज उन्हें आदर्श मानकर उनकी जयन्ती बड़े ही उत्साह से मनाने लगे।

हर शरुस जीवन जीते हुये अपने सामने बड़े-बड़ों के आदर्श रखकर जीवन बीताते है। हम जिनका आदर्श सामने रखते है, उस आदर्श व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की झांकीयों को हम अपने नजर के सामने रखते है। उनके जीवन में किये हुये विशेष कार्य, समाज हित और देश हित को दी हुई तरहीज हमें तहेदिल से अच्छी लगती है। हम भी उनके कदमों पर कदम रखकर हमारे जीवन में तरक्की करते है। वह शरुस जितने ऊँचे विचारों का, समाज और देश की समझ रखता हो, उसी तरह का बदलाव हम में भी आ जाता है। इसलिए हमारे आगे महान नेता, आदर्श मार्गदर्शक, महान समाज सेवक, समाज सुधारक, संत, शास्त्रज्ञ, धर्मसंस्थापक और विद्वान मंडली हो तो हमें मार्गक्रमण करना आसान होता है। छात्रावस्था में ही बाल मन पर यह संस्कार कुरेदा गया तो उनके जीवन में क्रान्तीकारक तब्दीली हो जाती है।

विद्यार्थी जीवन एक तपसाधना है। यह तपसाधना करते हुये, अध्ययन को अधिक समय देकर ज्ञान प्राप्त करना पडता है। तभी वह जिन्दगी सुख एवं संतोषजनक, खुशी से और ध्येयनिष्ठा से बीता सकता है। विद्यार्थी जीवन बीताते हुये हमारे आगे पारिवारिक, आर्थिक आदी अनेक रुकावटें आती है। उस वक्त ढाढस बाँधना पडता है। हौसला पस्त होने से नहीं चलता। धारा के साथ बहने में मर्दानगी नहीं है बल्कि धारा के खिलाफ तैरने में ही असली मर्दानगी है। विपत्तियों पर फतह हासिल करके आगे बढ़ना इसी में हमारे शोहरत की

बुनियाद है और मुश्किल समय जिन्होंने हौसला पस्त होने नहीं दिया एवं सफलता के शिखर पर पहुँच गये वह विश्वरत्न डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का जीवन हमारे आगे हो तो वह हमें और भी ज्यादा प्रेरणा दायक होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के सम्पूर्ण जीवन पर यदि हम एक नजर डालते हैं तो हमें दिखाई देगा कि वह एक महान विद्यार्थी थे। सम्पूर्ण जीवन उन्होंने ज्ञान साधना में व्यतित किया। अति विद्वान शरूक्स की जयन्ती यदि बतौर 'विद्यार्थी दिन' मनाई जाये तो बहुत बड़ा बदलाव होगा, ऐसा दिल की गहराई से लगता है।

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल 1891 में, मध्य प्रदेश, महु के फौजी परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम रामजी मालोजी सकपाल था और वे फौज में अध्यापक थे। आगे चलकर उन्हें सुभेदार पद तक तरक्की मिली थी। उनकी माता का नाम भीमा था और वह जल्द ही दिवंगत हो गई थी। बाबासाहब अम्बेडकर को अस्पृश्य समाज में जन्म लेने से जाति प्रथा के सुलगते हुये अंगारों पर उन्हें चलना पड़ा। पाठशाला में शिक्षा लेते समय बैठने के लिए चटाई उन्हें घर से लेकर जाना पड़ता था। कक्षा के बाहर बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ता था। उनका स्पर्श होने पर छुआछूत समझा जाता था। पाठशाला में उन्हें पानी पीने पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया था। 7 नवम्बर 1900 में सातारा उच्च विद्यालय में अंग्रेजी, पहली कक्षा के लिए उनका नाम दर्ज किया गया था। उस वक्त 'महार का बेटा' कहकर उन्हें तुकराया जाता था। सन 1904 में वे सातारा से मुम्बई पहुँच गये। उस समय उनके पिता, फूफी मीराबाई, भाई बालाराम आनंदराव, बहन तुलसा और वे स्वयं भीमराव 10x10 के कमरे में रहा करते थे। उन्हें रॉकेल के दीये पर ही पढ़ना पड़ता था। उनके पिता रात के 2 बजे उन्हें पढ़ने के लिए जगाकर स्वयं निगरानी करते थे। ऐसे में उन्हें 3-4 घंटे तक अध्ययन करना पड़ता था। इससे भी

बेहद कष्टमय जीवन का उन्हें सामना करना पड़ा।

भीमराव सन 1907 में मैट्रिक के इम्तहान में सफल हुये। उस सम्मान में केळूसकर गुरुजी ने स्वयंलिखित गौतम बुद्ध के चरित्र पर किताब उन्हें भेट दी। वह किताब पढ़कर उनका झुकाव बौद्ध धम्म की ओर हो गया। सयाजीराव गायकवाड ने उन्हें प्रतिमाह 25/- रु. छात्रवृत्ति का अभिवचन देने से उनकी बी.ए. तक की शिक्षा पूर्ण हो सकी। तदपश्चात उन्होंने स्वयं आर्थिक मदद करने से बाबासाहब अमरिका में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए पहुँचे। वहाँ उन्होंने एम.ए. की उपाधि सन 1915 में अच्छे अंकों से हासिल की। उनमें अनेक सुप्त गुण थे। प्रो. सेलिगमन के साथ में उन सुप्त गुणों का विकास हुआ। अपने भविष्यकाल को ढालने के लिए सुख और जरूरतों का त्याग करना चाहिये, उन्होंने इस पर जोर दिया।

अमेरिका में वे अपने जीवन का पल-पल दुर्लभ अवसर समझकर जीते थे। विश्वविद्यालय से उच्च उपाधियाँ हासिल करना ही उनका लक्ष्य नहीं था बल्कि विज्ञान, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदी विषय पर भी प्रवीणता होना जरूरी है ऐसा वे मानते थे। उन्होंने लगातार 16 से 18 घंटे अध्ययन करके एम.ए. की उपाधि हासिल की। वहाँ उन्होंने 'कास्ट इन इंडिया, देअर मैकनिजम, जिनेसिस अँड डेव्हलपमेन्ट (भारत की जाति, उनकी रचना, उत्पत्ति व विकास) प्रबंध का मई 1916 में अध्ययन किया। लगभग उसी समय बाबासाहब ने 'डिब्लिडंड ऑफ इंडिया, ए हिस्टॉरिकल अँड अँनालिटीकल स्टडी' यह प्रबंध प्रदिर्घ परिश्रम से पूर्ण किया। कोलंबिया विश्वविद्यालय ने उस प्रबंध जून 1916 में स्वीकार किया और कोलंबिया विश्वविद्यालय ने उन्हें ओपचारिकता से डॉक्टर ऑफ फिलासॉफी (पी.एच.डी) की उपाधि प्रदान की। अमरिका की डॉक्टरेट उपाधि प्राप्त करनेवाले डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर पहले भारतीय थे। यह ग्रन्थ उन्होंने श्रीमंत सयाजीराव गायकवाड ने

अध्ययन में मदद करने के कारण उन्हें समर्पित किया। उसी समय में प्रो. सिडनेवेच व प्रो. सेलिगमन के करीबी स्नेही पंजाब केसरी लाला लजपतराय ने डॉ. अम्बेडकर को राजनीतिक आन्दोलन में शामिल होने के लिए आवाहन किया। तब डॉ. अम्बेडकर ने कहा, “मैं विद्यार्थी हूँ और मुझे मेरा आद्य कर्तव्य पूरा करना है।”

डॉ. अम्बेडकर ने 1916 में लन्दन के ग्रेजुएट के साथ लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स अँड पॉलिटिकल सायन्स में भी प्रवेश लिया। अर्थशास्त्र में उनकी विशेष रुचि देखकर वहाँ के विद्वान प्राध्यापक से उन्हें डॉक्टर ऑफ सायन्स के लिए खास तौर से अनुमति मिली। किन्तु श्रीमंत सयाजीराव गायकवाडजी द्वारा उदार अंतःकरण से उन्हें दी हुई छात्रवृत्ति उनके दीवान ने बंद कर दी।

डॉ. अम्बेडकर की सिडनहॉम कॉलेज, मुम्बई में सन 1918 में पॉलीटिकल इकॉनॉमी में बतौर प्राध्यापक के नियुक्ति हुई थी। दो सालों तक वहाँ नौकरी करने के बाद उन्होंने कुछ पैसों की बचत करके फिर से लन्दन में जाकर प्रवेश प्राप्त कर लिया। उनका जीवन बेंजामिन फ्रँकलिन और डॉ. सॅम्युएल जान्सन समान था। उनके एक ग्रन्थ को जून 1921 में एम.एस.सी. की उपाधि प्राप्त हुई। सन 1922 में उन्होंने ‘प्रॉब्लेम ऑफ दी रुपी’ यह सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। उन्हें सन 1923 में इस ग्रन्थ के लिए डी.एस.सी. इस बहुमूल्य उपाधि से सम्मानित किया गया। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर सन 1923 में बॅरिस्टर भी हो गये। ‘थॉट्स ऑन लिग्विस्टिक स्टेट्स, (भाषावार, प्रान्तवार, विचार’ ‘महाराष्ट्र अँड ए लिग्विस्टिक प्रॉव्हिंस (महाराष्ट्र भाषिक प्रान्त)’ बाबत एक निवेदन धार कमिशन के समक्ष सन 1948 में प्रस्तुत किया गया था।

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर प्रातः एक प्याली चाय और पाव का टूकड़ा खाकर लन्दन म्युझियम की ओर कूच करते थे, यही वह विश्वविख्यात लन्दन म्युझियम

का विज्ञान विद्यामंदिर है। वही पर आधुनिक युग के महान तत्ववेत्ता कार्ल मार्क्स, कान्तिवीर लेनिन, स्वातंत्र्यविर मॅड्रिनी आदि महापुरुषों ने ज्ञानसाधना आरंभ की थी। इसी म्युझियम में प्रथम प्रवेश लेने वाले और अंतीम निर्गमन करनेवाले डॉ. अम्बेडकर ही थे। संध्या समय फिर से कुछ बिस्कूट, थोड़ासा मस्कापाव, पापड, एक प्याली चाय लेकर पुनः अध्ययन के लिए बैठ जाते थे। किताबों की संगत में बाबासाहब जीवन का परमोच्च आनंद लूटते थे। पढ़ी हुई किताबों का रंग, आकार और पाठ भी उनके ध्यान में रहता था। किताबों से वे अपने पुत्रों से भी अधिक स्नेह करते थे। वे किसी को भी किताबें पढ़ने के लिए नहीं देते थे। “यदा कदा ही दुर्भाग्य से न्यायालय का बेलिफ़ मेरा पुस्तकालय कब्जे में लेने आया तो, पहले किताब को स्पर्श करते ही मैं उसपर गोली दाग दूँगा।” ऐसा वे कहते थे। किताबें उनके जीवन की साँसे थी। पूरी रात वे पढ़ने में बिताते थे। लगातार पढ़ने से मिल्टन समान अंधापन आ सकता है, इस भय से वे यथार्थतः रो पड़े थे। वे समझते थे, पढ़े बिना जीवन शुष्क हो जाता है। इस दिग्गज विद्वान के स्वसंग्रहित 50,000 से ज्यादा ग्रन्थ पिपल्स एज्युकेशन सोसायटी, मुम्बई और औरंगाबाद के महाविद्यालय में हिफाजत के साथ रखे हुये हैं। वे कहते थे “मेरी किताबे नष्ट हो गई तो मेरा जीवन का भी अन्त होगा।” किताबें ही उनके लिए सबकुछ थी। केवल ग्रन्थों के लिए ‘राजगृह’ का निर्माण करनेवाला राजर्षि अब तक इस दुनिया में पैदा नहीं हुआ है। दुनिया के सभी अभिप्रेत तत्वों का सरल, सुगम, सुंदर दर्शन उनके ग्रन्थराज में पाया जाता है। साक्षात ज्ञानकोश अर्थात विद्यासागर अम्बेडकर।

डॉ. बाबासाहब आजीवन विद्यार्थी थे। उनमें तरह तरह के ग्रन्थ पढ़ने की दीवानगी थी। इसके लिए उन्होंने निम्नांकित पुस्तकालय का प्रयोग किया था।

१) पब्लिक गार्डन लायब्ररी, मुम्बई

- २) एलिफिस्टन कॉलेज लायब्ररी, मुम्बई
- ३) सिडेनहम कॉलेज लायब्ररी, मुम्बई
- ४) लायब्ररी ऑफ लॉ कॉलेज, मुम्बई
- ५) सिटी लायब्ररी, बडोदा
- ६) विश्वविख्यात अर्थशास्त्र के प्रोफेसर सेलिमन का निजी पुस्तकालय
- ७) कोलंबिया विश्वविद्यालय पुस्तकालय
- ८) प्रोफेसर जान डेवी का निजी पुस्तकालय
- ९) न्युयार्क शहर में तरह तरह के पुस्तकालय
- १०) गोल्डस्मिथ लायब्ररी ऑफ इकॉनामिक्स लिटरेचर
- ११) इंडिया ऑफिस लायब्ररी, लंदन
- १२) लंदन म्युझियम की लायब्ररी
- १३) लंदन विश्वविद्यालय की लायब्ररी
- १४) ग्रेज-इन-लॉ लायब्ररी, लंदन
- १५) बॉन युनिव्हर्सिटी की लायब्ररी (जर्मनी)
- १६) नॅशनल लायब्ररी, कलकत्ता
- १७) लायब्ररी ऑफ बंगाल रॉयल एशियाटिक सोसायटी
- १८) लायब्ररी ऑफ भंडारकर ओरिएंटल इस्टिटेयूट
- १९) सेंट्रल आर्कियोलोजीकल लायब्ररी, दिल्ली
- २०) सेंट्रल सेक्रेटरीएट लायब्ररी, दिल्ली
- २१) लायब्ररी ऑफ इंडियन काउंसिल ऑफ वर्ल्ड एफेअर्स, दिल्ली
- २२) नॅशनल आर्काइव्स लायब्ररी, दिल्ली

आशिया का बड़ा निजी पुस्तकालय डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का था। उनमें लाखों किताबें थीं।

डॉ. बाबासाहब की बुद्धिमत्ता एकदम तेज थी। लन्दन में, जिस पढ़ाई को ८ साल लगते थे वह उन्होंने मात्र २ सालों में ही पूरी कर डाली। यह करने के लिए उन्हें कड़ी मेहनत से १८ घंटे तक पढ़ाई करके पूरा करना पड़ा। दिर्घोद्योग और कष्ट करने से सफलता प्राप्त होती है इस पर उन्हें भरोसा था। हमारी उन्नति करने के लिए कोई भी आनेवाला नहीं है, मैं भी नहीं आ सकता, मन में ठान कर लो तो हमारी उन्नति हम

स्वयं ही कर सकते हैं, यह अनमोल सलाह देना वह नहीं भूले। ज्ञान के साथ साथ हम में शील भी होना चाहिये। शील के बगैर ज्ञान को अर्थ नहीं। ज्ञान एक शस्त्र है इसपर उन्हें अटल विश्वास था।

डॉ. बाबासाहब कहीं भी पढ़ सकते थे। पढ़ाई के लिए शांत माहौल होना उनके जरूरी नहीं था। वे भीड़ और दिन के किसी भी समय निरंतर पढ़ाई करते थे। पढ़ते हुये हमेशा उनके हाथ में पेन्सिल रहा करती थी। उनके मुम्बई के घर में 22,000 किताबें और दिल्ली के घर में 15,000 चुनिन्दा ग्रन्थ थे। मुम्बई के ग्रंथालय को उन्होंने 'राजगृह' नाम दिया था। निजी जीवन में भी वे निर्मल, आनंदी व मिलनसार थे। उनका जीवनचरित्र स्वच्छ, पारदर्शक और नैतिकतायुक्त था। कुत्ते के पिल्ले व छोटे बच्चों उन्हें विशेष पसन्द थे। उन्हें ऊँचे कपड़ों का, किमती फाऊंटन पेन का और बड़े बड़ों ग्रन्थों का बेजोड़ शौक था। उनकी लिखावट बेहद सुंदर, स्पष्ट थी। आखिरी में उन्हें संगीत व चित्रकला से भी लगाव हो गया था। वे लज़ीज़ भोजन भी बहुत अच्छे से पका लेते थे। उन्होंने पूरी जिन्दगी भर कभी भी धुम्रपान अथवा मद्यपान नहीं किया। उनका देदीप्यमान जीवन अर्थात चैतन्य का बहता हुआ झरना था। बाबासाहब कहते थे, "मैं प्रथम भारतीय हूँ और अंत में भी भारतीय ही हूँ।"

डॉ. अम्बेडकर ने मुम्बई में सन 1945 में 'पिपल्स एज्युकेशन सोसायटी' स्थापित कर मुम्बई और औरंगाबाद में महाविद्यालय की स्थापना की। सैकड़ों सालों से ज्ञान से वंचित समाज को ज्ञान प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया। विश्वजीत, विद्यासागर डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का शिक्षा क्षेत्र का यह कार्य भी जितना अविस्मरणीय उतना ही अनमोल है। उन्होंने दिनरात बेहद मेहनत करके अविरल कोशिश की और जबरदस्त विद्वत्ता प्राप्त की। अगाध विद्वत्ता, बेजोड़ सामर्थ्य अर्थात महामानव अम्बेडकर। उन्होंने अनेक राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक आदि विषय पर ग्रंथसंपदा

निर्माण की। मात्र 'भारतीय संविधान और बुद्ध अँड हिज धम्मा' इन ग्रन्थों ने उन्हें विश्वमान्यता प्राप्त करके दी। 14 अक्टूबर 1956, नागपुर में चार लाख अस्पृश्यों को बौद्ध धम्म की दीक्षा देकर दुनिया के इतिहास में धम्मक्रान्ति की।

आक्सफर्ड विश्वविद्यालय ने कुछ सालों पहले दुनिया के सौ सर्वोच्च व्यक्तियों की सूची प्रकाशित की।

उनमें भारतीय घटना के शिल्पकार, युगप्रवर्तक, परमपावन, विश्वरत्न डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर को प्रथम स्थान व 'बेस्ट स्टुडेंट इन कोलंबिया युनिवर्सिटी' घोषित किया है। अब तक वहाँ से पढ़कर जानेवाले व्यक्तियों की 250 सालों की सूची कोलंबिया विश्वविद्यालय ने जाहिर की है। बाबासाहब ने प्रतिकूल हालातों में कड़े मुसीबतों से जूझकर जो चरम ऊँचाई हासिल की यह देखते हुये विगत दस हजार सालों में 'मेकर्स ऑफ युनिवर्स' इस मालिका के सम्पूर्ण दुनिया के 100 महान पुरुषों में उन्हें स्थान दिया गया है। बाबासाहब ने भारत की बेजोड़ राज्यघटना लिखने के बावजूद भी इस देश के किसी भी विद्यापीठ ने उन्हें डॉक्टरेट उपाधि से नहीं नवाजा किन्तु 1952 में अमेरिका के कोलंबिया विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डी लिट' इस सर्वोच्च बहूमान से सम्मानित किया। कोलंबिया विश्वविद्यालय ने सन 1995 में उनकी मूर्ति बनायी। वहाँ हर साल १४ अप्रैल को अम्बेडकर जयन्ती मनाई जाती है। इस कोलंबिया विश्वविद्यालय के मूर्ति तले लिखा है, 'Founding Father of India' अर्थात् बाबासाहब को भारत के पिता कहा है। इतना ही नहीं कैनडा के 'Symah Frazer University' ने डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के विचारधारा पर निर्भर समाज निर्माण करने के लिए काम करना होगा ऐसी उन्होंने राय दी।

“विद्या धन यह सर्वश्रेष्ठ धन है। इस धन की खासियत यह है कि, वह असीमित है। इन्सान को

सम्पूर्ण ज्ञान ग्रहण करना असंभव है। किन्तु इसके लिए इन्सान को हमेशा के लिए विद्यार्थी रहना चाहिये। तभी वह ज्ञान आप प्राप्त कर सकोगे। सीमित शिक्षा प्राप्त करके जिन्दगी में सबकुछ प्राप्त हो गया यह समझना अनुचित होगा। यदि हम सम्पूर्ण जिन्दगी भर विद्यार्थी रहे तो ही सम्पूर्ण ज्ञान हमारी ओर बढ़ता रहेगी।” डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने यह बहूमोल सन्देश दिया।

कुछ सालों पहले 'दैनिक देशोन्नती' अखबार में डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का राष्ट्रीय महत्व दिया गया था। उसमें लिखा था...

“आज भारत की नई पीढ़ी को अमेरिका का आकर्षण है और अमेरिका की नई पीढ़ी को बुद्ध एवं डॉ. अम्बेडकर की वजह से भारत का आकर्षण है। **अगले कुछ ही सालों में दुनिया की युवा पीढ़ी के आदर्श केवल डॉ. अम्बेडकर ही रहेंगे। यह महज कल्पना नहीं है बल्कि यथार्थतः है।**”

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के तीन गुरु थे, बुद्ध, कबीर और फुले। महात्मा ज्योतिबा फुले स्त्री शिक्षा के प्रवर्तक थे। उन्होंने अस्पृश्य और बहुजनों की शिक्षा के लिए अविरल प्रयास किये। समाज के कुप्रथा पर कोड़े बरसाकर सामाजिक क्रान्ति की। वे सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत थे। उनकी जयन्ती 14 अप्रैल को होती है। डॉ. बाबासाहब ने उनसे प्रेरणा लेकर शिक्षा की रोशनी हरेक मन में जलाई। इसलिए डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर की जयन्ती 'विद्यार्थी दिन' घोषित करने से महात्मा फुले को भी अभिवादन होगा।

महाराष्ट्र राज्य उन्नतिशील राज्य है यह सर्वज्ञात है। इसलिए सभी पूर्वग्रह को दरकिनार कर डॉ. बाबासाहब की जयन्ती 'विद्यार्थी दिन' के तौर पर घोषित करने से महाराष्ट्र के उन्नतिशिलत्व की अनुभूति होगी और छात्रों के समक्ष एक उच्चप्रति के शख्सियत का आदर्श उनके लिए प्रेरणा स्रोत होगा, इसमें कोई दोराय नहीं है।

(अनुवाद - प्रतिभा)

भारतीय इतिहास लेखन की पृष्ठभूमि

-रोमिला थापर

अनेक यूरोपवासियों के मन में भारत के नाम से महाराजाओं, सँपैरों और नटों की तसवीर उभरती रही है। इस प्रवृत्ति ने उन चीजों में आकर्षण तथा रोमानियत का संचार किया, जो भारतीय थीं। लेकिन पिछले कुछ दशकों में भारत की चर्चा आर्थिक दृष्टि से अल्पविकसित देश के रूप में इतनी अधिक हुई है कि महाराजाओं, सँपैरों और नटों के कुहासे में से उसका चित्र एक शक्तिशाली, स्पंदनशील देश के रूप में उभरने लगा है। महाराजा अब तेजी से विलुप्त हो रहे हैं और नटों के करतब दृष्टिभ्रम से ज्यादा कभी कुछ नहीं रहे। बाकी है तो एक सँपैरा : सामान्यतया एक अर्ध-पोषण का शिकार प्राणी, जो अपनी जान जोखिम में डालकर साँप को पकड़ता है, उसके जहरीले दाँतों को उखाड़ता है और अपनी बीन के इशारों पर उसे नचाता है। और यह सब वह अपना, अपने परिवार का और साँप का पेट भरने के लिए, कभी-कभी कुछ सिक्के मिल जाने की आशा में करता है।

यूरोप की कल्पना में भारत सदा से बेहिसाब संपत्ति और अलौकिक घटनाओं का एक अविश्वसनीय देश रहा है, जहाँ बुद्धिमान व्यक्तियों की संख्या सामान्य से कुछ अधिक थी। जमीन खोदकर सोना निकालनेवाली चींटियों से लेकर वनों में नग्न रहनेवाले दार्शनिकों तक सब उस चित्र के अंग थे जो भारतीयों को लेकर प्राचीन यूनानियों के मन में बसा हुआ था और यह चित्र कई शताब्दियों तक ऐसा ही बना रहा। इसे नष्ट न करना सदाशयातापूर्ण प्रतीत हो सकता था, किंतु इसे बनाए रखने का मतलब एक मिथ्या धारणा को बनाए रखना होता।

दूसरी सभी प्राचीन संस्कृतियों की तरह भारत में संपत्ति कुछ लोगों तक सीमित रही। आध्यात्मिक क्रियाकलापों में भी थोड़े-से लोग ही संलग्न थे। पर

यह सत्य है कि इन क्रियाकलापों में आस्था रखना अधिकांश लोगों का स्वभाव बन गया था। दूसरी कुछ संस्कृतियों में जहाँ रस्सी के करतब को शैतान की प्रेरणाओं का परिणाम कहा जाता और इसलिए इसकी हर चर्चा को दबाया जाता, भारत में इसे मनोरंजन के साधन के रूप में उदार दृष्टि से देखा जाता था।

संपत्ति, जादू और ज्ञान के साथ भारत का नाम अनेक शताब्दियों तक जुड़ा रहा। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में, जब यूरोप ने आधुनिक युग में प्रवेश किया तो यह रवैया बदलना शुरु हो गया, और कई क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति के प्रति उत्साह प्रायः उसी अनुपात में कम हो गया जितना पहले उत्साह का अतिरेक था। अब यह पाया गया कि भारत में कोई ऐसी विशेषता नहीं थी जिसकी नवीन यूरोप सराहना करता। विवेकयुक्त विचार और व्यक्तिवाद के मूल्यों पर स्पष्टतः यहाँ कोई बल नहीं था। भारत की संस्कृति गत्यत्ररुद्ध संस्कृति थी और इसे अतीव तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा। यह प्रवृत्ति भारतीय वस्तुओं के प्रति मैकाले के तिरस्कार में शायद प्रभावी ढंग से मूर्तिमान हुई है। भारत की राजनीतिक संस्थाओं को, जिनकी कल्पना अधिकांशतया महाराजाओं और सुलतानों के शासन के रूप में की गई थी, निरंकुश और जनमत के प्रतिनिधित्व से सर्वथा विच्छिन्न कहकर तिरस्कृत किया गया। और, एक लोकतांत्रिक क्रांतियों के युग में, यह शायद सबसे बड़ा पाप था।

किंतु यूरोपीय विद्वानों के एक छोटे वर्ग के बीच से, एक विरोधी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। इन विद्वानों ने भारत की खोज अधिकांशतया उसके प्राचीन दर्शन और संस्कृत भाषा में सुरक्षित साहित्य के माध्यम से की थी। इस प्रवृत्ति ने जान-बूझकर भारतीय संस्कृति के अनाधुनिक और अनुपयोगितावादी पक्षों पर बल

दिया, जिनमें तीन हजार से भी अधिक वर्षों से अक्षुण्ण रहनेवाले धर्म के अस्तित्व का जयगान था और यह समझा गया था कि भारतीय जीवन-पद्धति आध्यात्मिकता और धार्मिक विश्वास की सूक्ष्मताओं से इतनी अधिक संपृक्त है कि जीवन की पार्थिव चीजों के लिए वहाँ कोई अवकाश ही नहीं है। जर्मन रोमैंटिकवाद भारत के इस स्वरूप के समर्थन में अत्याधिक आग्रहशील था और यह आग्रहशीलता भारत के लिए उतनी ही क्षतिकारक थी जितनी मैकाले द्वारा भारतीय संस्कृति की अवहेलना। **भारत अब अनेक यूरोपवासियों के लिए एक रहस्यात्मक प्रदेश हो गया, जहाँ अत्यंत साधारण क्रियाकलापों में भी प्रतीकात्मकता का समावेश किया जाता था। वह पूर्व की आध्यात्मिकता का जनक था, और संयोगवश, उन यूरोपीय बुद्धिजीवियों का शरण-स्थल भी जो अपनी स्वयं की जीवन-पद्धति से पलायन करना चाह रहे थे। मूल्यों का एक द्वैध स्थापित किया गया, जिसमें भारतीय मूल्यों को 'आध्यात्मिक' और यूरोपीय मूल्यों को 'भौतिकवादी' कहा गया, किंतु इन कथित आध्यात्मिक मूल्यों को भारतीय समाज के संदर्भ में देखने का प्रयास बहुत कम हुआ (जिसके कुछ विशुद्ध करनेवाले परिणाम हो सकते थे)। पिछले सौ वर्षों में कुछ भारतीय विचारकों ने इस विचारधारा को स्वीकार कर लिया और भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए यह ब्रिटेन की तकनीकी श्रेष्ठता के साथ प्रतियोगिता कर पाने में अपनी असमर्थता को छुपाने का एक बहाना बन गया।**

अठारहवीं शताब्दी में भारत के अतीत की खोज और यूरोप के सामने उसे प्रस्तुत करने का काम अधिकांशतया भारत में जेसइट संप्रदाय के लोगों और सर विलियम जोन्स तथा चार्ल्स विल्किन्स जैसे ईस्ट इंडिया कंपनी के यूरोपीय कर्मचारियों ने किया। जल्दी ही भारत की प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य के अध्ययन में दिलचस्पी लेनेवालों की संख्या बढ़ गई

और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भाषा-विज्ञान, नृशास्त्र तथा भारत-विद्या के अन्य क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति दिखाई दी। यूरोप में विद्वानों ने अध्ययन के इस नए क्षेत्र में गहरी दिलचस्पी दिखाई, जिसका प्रमाण उन लोगों की संख्या है जिन्होंने भारत-विद्या को अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाया, और जिनमें से कम-से-कम एक व्यक्ति का उल्लेख यहाँ आवश्यक है- वह है एफ. मैक्समूलर।

उन्नीसवीं सदी में भारत के साथ सबसे ज्यादा सीधा सरोकार जिन लोगों का था वे ब्रिटिश प्रशासक थे और शुरु में भारत के गैर-भारतीय इतिहासकार अधिकांशतया इसी वर्ग के लोग थे। फलस्वरूप, शुरु के इतिहास प्रशासकों के इतिहास थे, जिनमें मुख्यतया राजवंशों और साम्राज्यों के उत्थान और पतन का विवरण होता था। भारतीय इतिहास के नायक राजा थे और घटनाओं का विवरण उन्हीं से जुड़ा हुआ होता था। अशोक, चंद्रगुप्त द्वितीय, या अकबर जैसे अपवादों को छोड़कर, भारतीय शासक का आदर्श रूप निरंकुश राजा था जो अत्याचारी था और अपनी प्रजा की भलाई में जिसकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। जहाँ तक वास्तविक शासन का सवाल है, अंतर्निहित विचार यह था कि इस उपमहाद्वीप के इतिहास में जितने शासक आज तक हुए हैं, ब्रिटिश प्रशासन उन सबकी तुलना में श्रेष्ठ था।

भारतीय इतिहास की इस व्याख्या ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों और बीसवीं सदी के प्रारंभ में लिखनेवाले भारतीय इतिहासकारों पर अपना प्रभाव डाला। आदर्श इतिहास-ग्रंथों का मुख्य विषय राजवंशों का इतिहास था जिसमें शासकों की जीवनी को अधिक महत्त्व दिया जाता था। लेकिन व्याख्या के दूसरे पक्ष की प्रतिक्रिया भिन्न प्रकार की हुई। अधिकांश भारतीय इतिहासकारों ने या तो स्वाधीनता के राष्ट्रीय आंदोलन में स्वयं भाग लिया था, या वे उससे प्रभावित थे। उनकी मान्यता थी कि भारतीय इतिहास का सवर्ण-

युग इस देश में अंग्रजों के आगमन से पूर्व अस्तित्व में था और भारत का सुदूर अतीत विशेष रूप से उसके इतिहास का वैभवशाली युग था। यह दृष्टिकोण बीसवीं सदी के प्रारंभ में भारतीय जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का स्वाभाविक और अनिवार्य अंग था।

इस संदर्भ में एक और तिरस्करपूर्ण धारणा थी जिसने प्राचीन भारत संबंधी अधिकांश प्रारंभिक लेखन को प्रभावित किया। इस काल का अध्ययन करनेवाले यूरोपीय इतिहासकारों की शिक्षा-दीक्षा यूरोप की क्लासिकी परंपरा में हुई थी, जहाँ लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि यूनान की प्राचीन सभ्यता-यूनान का चमत्कार-मानव-जाति की महानतम उपलब्धि थी। फलस्वरूप जब भी किसी नई संस्कृति का पता चलता, तां उसकी तुलना प्राचीन यूनान से की जाती और इस तुलना में उस निरपवाद रूप से हीन पाया जाता। या अगर उसमें कोई प्रशंसनीय बात होती भी तो सहज भाव से उसे यूनानी संस्कृति के साथ जोड़ने की चेष्टा की जाती। **विंसेंट स्मिथ**, जो कई दशाब्दियों तक प्राचीन भारत का अग्रगण्य इतिहासकार समझा जाता रहा, इस प्रवृत्ति का शिकार था। अजंता स्थित सुप्रसिद्ध बौद्ध-स्थल को भित्ति चित्रों पर, और विशेष रूप से एक ऐसे चित्र पर लिखते समय, जिसके विषय में माना जाता है कि यह ईसा की सातवीं शताब्दी में फारस के एक सासानी राजा के किसी दूत के आगमन का चित्र है और जिसका कला और इतिहास, किसी भी दृष्टि से यूनान के साथ कतई कोई संबंध नहीं है, वह कहता है:

भारत और फारस के असामान्य राजनीतिक संबंधों के एक समकालीन अभिलेख के रूप में दिलचस्प होने के अतिरिक्त यह चित्रकला के इतिहास में अपने विशिष्ट स्थान के कारण बहुत अधिक मूल्यवान है। इससे न केवल अजंता के कुछ संबंधित महत्त्वपूर्ण चित्रों का काल-निर्धारण होता है बल्कि एक ऐसा प्रतिमान भी स्थापित होता है जिससे दूसरे चित्रों का

काल-निर्धारण किया जा सके, बल्कि इस संभावना की ओर भी संकेत मिलता है कि अजंता शैली की चित्रकला फारस से, और अंतोगत्वा यूनान से ग्रहण की गई होगी।

भारतीय इतिहासकारों पर ऐसे वक्तव्यों की तीव्र प्रतिक्रिया हुई, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यह सिद्ध करने के प्रयत्न किए गए कि भारत ने अपनी संस्कृति का कोई भी अंश यूनान से ग्रहण नहीं किया था, अथवा यह कि भारत की संस्कृति यूनानी संस्कृति के बिलकुल समानांतर थी, जिसमें उन सब गुणों के दर्शन होते थे जो यूनानी संस्कृति में वर्तमान थे। हर सभ्यता अपने-आपमें एक अलग चमत्कार होती है, इसे तब तक न यूरोपीय इतिहासकारों ने समझा था और न भारतीय इतिहासकारों ने। किसी सभ्यता को स्वयं उसके गुणों के आधार पर परखने का विचार बाद में उत्पन्न हुआ।

अठारहवीं सदी में जब यूरोपीय विद्वानों का पहले-पहल भारत से संबंध स्थापित हुआ और उसके अतीत के बारे में जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तो **उनकी सूचनाओं के स्रोत ब्राह्मण पुरोहित थे**, जिन्हें प्राचीन परंपरा का संरक्षक माना जाता था। उनका कहना था कि यह परंपरा संस्कृत-ग्रंथों में सुरक्षित है और उन ग्रंथों से केवल वे ही भलीभाँति परिचित हैं। इस प्रकार भारत के **अधिकांश प्राचीन इतिहास की पुनर्चना लगभग संपूर्णतया संस्कृत-स्रोतों, अर्थात् प्राचीन शास्त्रीय भाषा में सुरक्षित सामग्री के आधार पर की गई। इनमें बहुतेरे ग्रंथ धार्मिक प्रकृति के थे और अतीत की व्याख्या स्वभावतः इनके रंग से बच नहीं सकी। धर्मशास्त्र** (सामाजिक विधान की पुस्तकों) जैसे अपेक्षया इहलौकिक साहित्य के लेखक और टीकाकार भी ब्राह्मण ही थे। फलस्वरूप उनका झुकाव सत्ता के समर्थन की ओर था तथा आमतौर पर वे अतीत की ब्राह्मणों द्वारा की गई व्याख्या को मानते थे, भले ही उस व्याख्या में ऐतिहासिक प्रामाणिकता का अभाव

हो। उदाहरण के लिए, वर्ण-व्यवस्था का जैसा वर्णन इन ग्रंथों में किया गया है उससे प्रतीत होता है कि अत्यंत प्राचीनकाल में ही समाज का विभिन्न स्तरों में कठोरता से बँटवारा कर दिया गया था और उसके बाद शताब्दियों तक यह व्यवस्था प्रायः ज्यों-की-त्यों बनी रही। तो भी भारतीय समाज में वस्तुतः वर्ण-व्यवस्था का रूप कुछ ऐसा था कि उसमें परिवर्तन की काफी गुंजाइश थी, जिसे धर्मशास्त्रों के प्रणेता स्वभावतः स्वीकार नहीं करना चाहते थे।

बाद में दूसरे कई प्रकार के स्रोतों से उपलब्ध साक्ष्यों के प्रयोग ने ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तुत कुछ साक्ष्यों को चुनौती दी और कुछ का समर्थन किया, और इस प्रकार अतीत का ज्यादा सही चित्र सामने आया। समकालीन अभिलेखों और सिक्कों से उपलब्ध साक्ष्यों का महत्त्व तेजी से बढ़ता गया। विदेशी यात्रियों द्वारा गैर-भारतीय भाषाओं-यूनानी, लातिन, चीनी और अरबी-में लिखे गए विवरणों का उपयोग करने पर अतीत को नए दृष्टिकोण से देखना संभव हुआ। विभिन्न स्थानों पर की गई खुदाई से अतीत के जो अधिक निभ्रांत अवशेष प्राप्त हुए हैं उनसे भी ऐसा ही लाभ हुआ। उदाहरण के लिए, चीनी स्रोतों से और श्रीलंका में अभिलिखित पालि धर्मग्रंथों के उपलब्ध होने पर बौद्ध धर्म संबंधी साक्ष्यों का संग्रह काफी बड़ा हो गया। तेरहवीं सदी के बाद के भारतीय इतिहास से संबंधित अरबी और फारसी की सामग्री का अध्ययन अब स्वतंत्र रूप से किया जाने लगा और उसे पश्चिम एशिया में इस्लामी संस्कृति का पूरक मानने की प्रवृत्ति समाप्त हो गई।

प्रारंभ के अध्ययनों में राजवंशों के इतिहास पर अधिक ध्यान केंद्रित करने के पीछे यह धारणा भी थी कि 'प्राच्य' समाजों में राजा की सत्ता शासन के दैनंदिन कार्यों में भी सर्वोपरि थी। लेकिन भारतीय राजनीतिक प्रणालियों में दैनंदिन कार्यों का प्राधिकार शायद ही कभी केंद्र के हाथों में होता था। भारतीय

समाज की अद्वितीय विशेषता-वर्ण व्यवस्था-क्योंकि राजनीति और व्यावसायिक कार्यकलाप दोनों से जुड़ी हुई थी, इसलिए उसके अंतर्गत बहुत-से ऐसे कार्य भी होते थे, जिन्हें सामान्यतया, 'पूर्व की निरंकुश व्यवस्था' जैसी कोई चीज यदि सचमुच होती, तो उसके साथ संबद्ध किया जाता। **भारत में सत्ता किस प्रकार कार्य करती रही है, यह वर्णों तथा जातियों के संबंधों और व्यापारिक श्रेणियों तथा ग्राम परिषदों जैसी संस्थाओं का विश्लेषण करके समझा जा सकता है, राजवंशों का सर्वेक्षण करने मात्र से नहीं।** दुर्भाग्यवश, ऐसे अध्ययनों का महत्त्व अभी हाल में ही समझा गया है, और संभवतः ऐतिहासिक दृष्टि से **प्रामाणिक स्थापनाएँ** प्रस्तुत करने के लिए एक-दो दशाब्दियों तक अभी और गंभीर अध्ययन करना पड़ेगा। फिलहाल तो हम अधिक-से-अधिक उन स्रोतों की ओर ही संकेत कर सकते हैं जिनसे शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ होगा।

संस्थाओं के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, अंशतः जिसका कारण यह विश्वास था कि उनमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। यह ऐसा विचार था जिसने इस सिद्धांत का भी पोषण किया कि भारतीय संस्कृति, मुख्य रूप से भारतवासियों के आलस्य और जीवन के प्रति उनके निराशापूर्ण तथा भाग्यवादी दृष्टिकोण के कारण, अनेक शताब्दियों तक अवरुद्ध एवं अपरिवर्तनशील रही है। निस्संदेह यह अतिशयोक्ति है। यह सच है कि कुछ स्तरों पर भारत में तीन हजार वर्ष से एक अबाध सांस्कृतिक परंपरा चली आ रही है, किसी हिंदू द्वारा गायत्री मंत्र के पाठ का इतिहास तीन हजार साल पुराना है, लेकिन जिस संदर्भ में आज यह पाठ किया जाता है वह अपरिवर्तित रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह आश्चर्य की बात है कि उन्नत शताब्दी में जब यूरोप संबंधी अध्ययन करते हुए यूरोपीय इतिहास में विकासवाद की प्रवृत्तियाँ खोजने पर बहुत अधिक जोर दिया जा रहा था, एशियाई इतिहास के अध्ययन में यह दृष्टिकोण कभी नहीं

अपनाया गया, जिसमें हर द्वीप का नाम एक राजवंश के नाम के साथ जुड़ा हुआ था, और भारतीय इतिहासकारों की अधिकांश मानक रचनाओं में इसी ढाँचे का उपयोग किया गया है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि दूसरे पक्षों के अध्ययन की उपेक्षा की गई। पूरी उन्नतसर्वी शताब्दी में भारतीय समाज और धर्म के विविध पक्षों पर अत्यंत रोचक सूचनाओं का संकलन किया गया। पर न जाने क्यों, मानक इतिहास-ग्रंथों में यह जानकारी बहुत कम सम्मिलित हो पाई है।

राजवंशों पर आग्रह के फलस्वरूप भारत का इतिहास तीन प्रमुख कालों में विभाजित हो गया—प्राचीन, मध्य और आधुनिक। प्राचीन युग बहुधा कार्य संस्कृति के आगमन (बाद के प्रकाशनों में सिंधु घाटी की सभ्यता) से प्रारंभ होकर इस्वी सन् १०० के लगभग उत्तरी भारत में तुर्क आक्रमणों के समय समाप्त होता है। यहाँ से मध्य युग प्रारंभ होता है, जो अठारहवीं सदी के मध्य में अंग्रेजों के आगमन तक चलता है। इस विभाजन को हिंदू के साथ प्राचीन युग के और मुस्लिम के साथ मध्य युग के अनुचित समीकरण से पुष्ट किया गया, क्योंकि पहले काल के अधिकांश राजघराने मूलतः हिंदू थे और दूसरे काल के मुस्लिम। मुस्लिम काल की पूर्व युग से भिन्नता दिखाने के लिए उसे एक विशिष्ट चरित्र प्रदान किया गया, जिसमें हर स्तर पर मुस्लिम संस्कृति के अलगाव पर जोर था। मुस्लिम शासकों के दरबारी इतिहास-लेखकों और उलेमाओं की रचनाओं में इस स्थापना का औचित्य खोज गया। जो भी हो, बीसवीं शताब्दी के भारत में जो राजनीतिक प्रवृत्तियाँ थी, उनके चलते हिंदू युग और मुस्लिम युग के विभाजन को, भारत के भारतीय और अभारतीय, दोनों इतिहासकारों ने मान लिया। लेकिन भारतीय इतिहास का यह काल-विभाजन अपनी धारणाओं में संदिग्ध है ही, इसके द्वारा कुछ बातों पर जो बल दिया गया वह भी भ्रामक है। भारतीय इतिहास में धर्म किसी भी दृष्टि से परिवर्तन का शक्तिशाली

प्रेरक तत्त्व नहीं रहा, जैसाकि इन नामों से ध्वनित होता है: अनेक शक्तियों में से एक यह भी था। पिछले दिनों भारतीय इतिहास के प्रमुख कालों को, उपरोक्त विभाजन की उपेक्षा अधिक तार्किक परिवर्तनों के आधार पर पुनर्परिभाषित करने की चेष्टाएँ की गई हैं।

एक और तत्त्व, जिसने किसी सीमा तक ऐतिहासिक व्याख्या के आग्रहों को प्रभावित किया, इस उपमहाद्वीप का भौगोलिक ढाँचा था। उत्तर में सिंधु और गंगा के विस्तृत मैदान में बड़े एकात्मक राज्यों का विकास बहुत आसानी से हो सका। उपमहाद्वीप का दक्षिणी प्रायद्वीपवाला आधा भाग पर्वतों, पठारों और नदी उपत्यकाओं के द्वारा छोटे-छोटे हिस्सों में बँट गया था, और इस भौगोलिक भिन्नता के कारण यहाँ राजनीतिक एकरूपता के अवसर, उत्तरी मैदान के मुकाबले कम थे। साम्राज्यों के इस युग में—उन्नीसवीं और प्रारंभिक बीसवीं शताब्दी ऐसे ही युग थे— उत्तर के विशाल राज्यों ने इतिहासकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। जिन कालों में बड़े राज्य पनपे, वे स्वर्ण-युग कहलाए, और जब अपेक्षया छोटे प्रादेशिक राज्यों का विकास हुआ तो उन कालों को अंधकार-युग कहा गया। दक्षिणी भारत के इतिहास पर, उन कालों को छोड़कर, जब वह भी अपने साम्राज्यों पर गर्व कर सकता था, बहुत कम ध्यान दिया गया। उसे इसलिए भी अलाभकर स्थिति में रहना पड़ा कि वहाँ कि राजनीतिक गतिविधियों का स्वरूप और उसकी आर्थिक संभावनाएँ उत्तर के जैसी नहीं थीं। उत्तरी राज्यों की शक्ति का आधार मूलतः विशाल भू-क्षेत्रों को अधिकृत करने पर था और उनका अधिकांश राजस्व भूमि से प्राप्त होता था। किसी भी इतिहासकार के लिए यह सीधी और सरलता से समझ में आ सकनेवाली बात थी। दक्षिणी राज्यों के गठन में सामुद्रिक शक्ति और सामुद्रिक कार्य-व्यापार के आर्थिक पक्ष का प्रभाव बहुत अधिक था, जिसके कारण इन राज्यों का ढाँचा उत्तर की तुलना में अधिक जटिल हो गया।

भारतीय इतिहास-लेखन के बदलते हुए दृष्टिकोणों की ओर संकेत करने का उद्देश्य प्रारंभिक इतिहासकारों के काम को मूल्यहीन कहकर उपेक्षित करना या उनकी विद्वता के महत्त्व को घटाना नहीं है। उनकी व्याख्या की कमियाँ बहुधा उनके युग की कमियाँ थी, क्योंकि इतिहासकार अक्सर अपने युग का इतना अधिक प्रतिनिधित्व करता है कि यह बात खुद उसकी सोच से बाहर होती है। अपनी कमियों के बावजूद इन अध्ययनों ने भारत के इतिहास की नींव रखी और उसे एक सुदृढ़ कालक्रमानुसारी ढाँचा प्रदान किया, जिसको आधार बनाकर नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं जो भारतीय सभ्यता के विचारों और उसकी संस्थाओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में रखेंगी।

पहले भारत के इतिहासकार को मूलतः प्राच्यविद् समझा जाता था। उन दिनों प्राच्यविद् वे कहलाते थे जो एशिया की भाषाओं और संस्कृतियों का अध्ययन करते थे, और जिनके अध्ययन विजातीयता से सुवासित होते थे, कम-से-कम जन-साधारण के मन में यही धारणा थी। प्राच्यविद्या संबंधी उन्नीसवीं शताब्दी की संकल्पना वर्तमान शताब्दी में यूरोप और भारत, दोनों स्थानों पर बदल गई है। समकालीन विश्व में इतिहास को अलग से क्लासिकी संस्कृतियों के अध्ययन की अपेक्षा सामाजिक विज्ञानों का एक अंग मानने की वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। यह नई प्रवृत्ति भारत के अतीत से भिन्न प्रकार के सवाल करना चाहती है: प्राच्यविद् जो सवाल करते थे उनसे भिन्न। यह अंतर अधिकांशतया इतिहास संबंधी बदलते हुए आग्रहों का है। राजनीतिक इतिहास और राजवंशों का अध्ययन अब भी ऐतिहासिक व्याख्या के महत्त्वपूर्ण पहलू हैं, किंतु इनको अब दूसरी ऐसी विशेषताओं के संदर्भ में देखा जाता है जिनसे किसी राष्ट्र अथवा संस्कृति का निर्माण होता है। राजनीतिक ढाँचे में होनेवाले परिवर्तन आर्थिक ढाँचे के परिवर्तनों से अविच्छिन्न रूप से गुंथे होते हैं और इनका फिर सामाजिक संबंधों पर प्रभाव

पड़ता है। अगर किसी धार्मिक आंदोलन के बड़ी संख्या में अनुयायी बनते हैं, तो उनके आकर्षण में कोई ऐसी बात अवश्य होगी जो उनका समर्थन करनेवाले लोगों के लिए सार्थक हो। किसी नई भाषा या नए साहित्य का उदय तभी हो सकता है जब उनसे उस समाज की कोई आवश्यकता पूरी होती हो जिसमें उनकी जड़ें हैं। भारतीय इतिहासकार के लिए उन लोगों के विचारों को प्रस्तुत करना या उनका विश्लेषण करना ही पर्याप्त नहीं है जिन्होंने भारत के इतिहास को रूप देने और उसका खाका तैयार करने का प्रयत्न किया। यह जानना आवश्यक है कि शताब्दियों तक भारत के लोगों ने क्यों इन विचारों को स्वीकार, अस्वीकार या संशोधित किया।

इनमें से कुछ सवालों को उठाने की कोशिश की गई है। इसका उद्देश्य उन संस्थाओं और घटनाओं की तरफ संकेत करना है। जिन्होंने भारतीय संस्कृति के विकास में योग दिया है। लेकिन भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन करने और निरपेक्ष मूल्य-निर्णय देने की प्रवृत्ति से यहाँ बचा गया है, क्योंकि संक्षिप्त इतिहास की सीमा में वैसे किसी मूल्यांकन का परिणाम निरर्थक घिसी-पिटी उक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। यह मूलतः राजनीतिक इतिहास नहीं है। राजवंशीय घटनाक्रम को यहाँ काल-संदर्भों के रूप में ही देखा गया है। भारतीय जीवन के कुछ पहलुओं-उदाहरणार्थ आर्थिक संरचना, बदलते हुए सामाजिक संबंधों, धार्मिक आंदोलनों के ऐतिहासिक संदर्भ, भाषाओं के उद्भव और विकास का अध्ययन करते समय कुछ खास बातें उभरकर सामने आई हैं। इसका उद्देश्य उन बातों का वर्णन करना और तथ्यों की ऐसे ढंग से व्याख्या करना है जो सर्वाधिक विश्वसनीय प्रतीत हो।

पिछले कुछ सालों में भारत का प्रारंभिक इतिहास दो नई पद्धतियों से उपलब्ध साक्ष्यों के उपयोग से समृद्ध हुआ है। **ये दो पद्धतियाँ हैं- समाज का उसके विविध रूपों में व्यवस्थित अध्ययन और पुरातत्व से**

प्राप्त समसामयिक साक्ष्यों का व्यापक उपयोग। पहली पद्धति का महत्त्व इस बात में निहित है कि यह भारत के अतीत को नए दृष्टिकोण से देखने की संभावनाओं को इंगित करती है और ऐसे प्रश्न उठाती है जिनके उत्तर मिलने पर भारत के इतिहास को ज्यादा सही ढंग से समझ सकना संभव है। कई प्रकार के शोध-कार्यों में इस दृष्टि का सार्थक उपयोग किया जा चुका है। समाज के अध्ययन से **तुलनात्मक अध्ययन** में भी रुचि बढ़ी है: एक संस्कृति को आदर्श घोषित करने और दूसरी सब संस्कृतियों को उसकी कसौटी पर कसने की पुरानी पद्धति के रूप में नहीं, बल्कि कई संस्कृतियों के तुलनात्मक विश्लेषण के रूप में। यही वह दृष्टिकोण है जिसने यूरोपीय सामंतशाही पर मार्क ब्लॉच की पुस्तक-जैसे ऐतिहासिक अध्ययनों को भारत के इतिहासकार की बौद्धिक तैयारी के लिए प्रासंगिक बनाया है।

पुरातत्त्व ने सर्वेक्षण और खुदाई से प्राप्त भौतिक अवशेषों के रूप में ठोस, त्रि-आपयामी तथ्य प्रस्तुत किए हैं। ये तथ्य केवल साहित्यिक साक्ष्यों की पुष्टि और सांख्यिकीय सामग्री की प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि भारतीय इतिहास के खासकर प्राचीनतम काल के बारे में जहाँ-जहाँ जानकारी का अभाव था, उसकी पूर्ति करने में भी इनसे सहायता मिली है। गत वर्षों में प्राप्त प्रागैतिहासिक भारत से संबंधित साक्ष्य, संस्कृति के बाद में विकसित रूपों के मूल स्रोतों का पता लगाने की दृष्टि से, काफी मूल्यवान सिद्ध हुए हैं। ऐतिहासिक युग से तत्काल पूर्व की शताब्दियों में, इस उपमहाद्वीप के पुरातात्विक चित्र की सतही जानकारी भी भारत के प्रारंभिक इतिहास को समझने में सहायक है।

भारत में मानवीय कार्यकलाप के जो प्राचीनतम चिह्न अब तक मिले हैं वे ४,००,००० ई.पू. के बीच दूसरे और तीसरे हिम-युगों के संधिकाल के हैं और वे इस बात के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि उस समय पत्थर के उपकरण काम में लाए जाते थे। इसके पश्चात् एक

लंबे अरसे तक विकास मंद गति से होता रहा, जिसमें अंतिम समय में जाकर तीव्रता आई और उसकी परिणति २३०० ई.पू. के लगभग सिंधु घाटी की आलीशान सभ्यता (अथवा नवीनतम नामकरण के अनुसार हड़प्पा संस्कृति) के रूप में हुई। हड़प्पा की पूर्ववर्ती संस्कृतियाँ हैं: बलूचिस्तानी पहाड़ियों के गाँवों में प्राप्त नल संस्कृति, मकरान तट से लेकर सिंधु के मुहाने तक फैले गाँवों की कुल्ली संस्कृति और राजस्थान तथा पंजाब की नदियों के किनारे बसे कुछ ग्राम-समुदायों की संस्कृति।

प्राचीन सभ्यताओं में क्षेत्रफल की दृष्टि से हड़प्पा संस्कृति का विस्तार सबसे अधिक था। इसके अंतर्गत न केवल सिंधु का मैदान (पंजाब और सिंधु), बल्कि उत्तरी राजस्थान और पश्चिमी भारत में कठियावाड़ तक के प्रदेश थे। यह मूलतः एक नागर संस्कृति थी जिसकी सत्ता के केंद्र दो नगर-मोहेंजोदाड़ो तथा हड़प्पा थे। इन दोनों नगरों में पाए गए विस्तीर्ण अन्न-भंडारों से पता चलता है कि इनका संरक्षण गाँव की अतिरिक्त पैदावार से होता था। आय का दूसरा साधन इस उपमहाद्वीप के उत्तरी तथा दक्षिणी क्षेत्रों के आंतरिक व्यापार और हड़प्पा संस्कृति के लोगों तथा फारस की खाड़ी और मेसोपोटामिया के लोगों के बीच व्यापार की उन्नति से होनेवाला लाभ था।

इन नगरों में उन्नत नगर-नियोजन एवं संगठन की धारणा का साक्ष्य मिलता है। प्रत्येक नगर दो क्षेत्रों में बँटा हुआ था-एक नगरकोट जिसमें नागरिक और धार्मिक जीवन की आवश्यक संस्थाएँ स्थित थीं, और दूसरा आवासीय क्षेत्र जहाँ नगर की आबादी रहती थी।

हड़प्पा संस्कृति के बहुसंख्यक अवशेषों में सबसे अधिक उलझन मुद्राओं ने पैदा की है-छोटी, चपटी, वर्गाकार या चौकोर वस्तुएँ, जिन पर मानव या पशु-आकृतियाँ अंकित हैं और कुछ लिखावट भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मुद्राएँ, जिनकी संख्या लगभग दो हजार है, व्यापारियों के प्रतीक चिह्न हैं

अथवा यह भी संभव है कि इनका संबंध ग्रामीण उपज से रहा हो जो नगरों में लाई जाती थी।

ईसा-पूर्व की दूसरी सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध में सिंधु घाटी के प्रदेश पर अपेक्षया कम सभ्य लोगों ने अधिकार कर लिया था, जिसके कारण हड़प्पा संस्कृति और परवर्ती आर्य संस्कृति के बीच, राजनीतिक निरंतरता में व्यवधान उत्पन्न हुआ।

१७००ई.पू. तक हड़प्पा संस्कृति का ज्हास हो चुका था और १५०० ई.पू. के लगभग ईरान से भारतीय आर्यों के प्रव्रजन के फलस्वरूप उत्तर-पश्चिमी भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में कुछ नई विशेषताओं का समावेश हुआ। उपमहाद्वीप के इस क्षेत्र का सिंधु नदी तथा हिंदुकुश पर्वत के उत्तर और पश्चिम के क्षेत्रों से संपर्क हमेशा बना रहा। कई बार यह उनकी राजनीति में भी आतमसात हुआ और उनके सांस्कृतिक मिश्रण का अंग बना। इसी प्रकार पश्चिमी भारत ने फारस की खाड़ी और लाल सागर के पश्चिमी सामुद्रिक प्रदेशों से अपना संपर्क कायम रखा। फलतः सिंधु तथा गंगा के मैदानों में जो विकास हुआ वह एक-दूसरे से कटा हुआ रहा।

पूर्व की ओर गंगा के मैदान में ऐसे लोगों की छोटी-छोटी बस्तियों के प्रमाण मिलते हैं। जो शिकार और खेती के बीच संक्रमण की अवस्था में थे और

विभिन्न प्रकार के पोषण और ताँबे के उपकरण तथा कुछ घटिया किस्म के कपिशवर्ण मिट्टी के बर्तन काम में लाते थे। ये संभवतः वही लोग थे जिनसे गंगा घाटी में प्रवेश करने पर इंडो-आर्यों का सामना हुआ था। इस अनुमान का आधार यह तथ्य है कि कई स्थानों पर खुदाई में इंडो-आर्यों से संबद्ध (इसकी अभी तक पुष्टि नहीं हुई है) भूरे-रंगे बर्तन ऐसे स्तरों पर मिले हैं जिनके नीचे पूर्ववर्ती कपिशवर्ण बर्तनों की तह पाई गई।

भूरे-रंगे बर्तनों के स्थल पर गंगा घाटी के पश्चिमी भाग में पाए गए हैं, जिनका काल ११०० ई.पू. से ५०० ई.पू. के बीच है। कुछ पुराने स्थलों पर अभी हाल में ही लोहा भी पाया गया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि भारत में लोहे का प्रयोग लगभग ८०० ई.पू. की साधारणतया स्वीकृत तिथि से पहले भी होता था। भूरे-रंगे बर्तनोंवाले स्थल खेतिहर समुदायों के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, जिनका परिचय पशु-पालन के साथ-साथ घोड़ों से भी था। वे आमतौर पर ताँबे के उपयोग से परिचित थे। हड़प्पा-कालीन स्थलों पर घोड़े का कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता है और इस साक्ष्य के आधार पर भी यह अपुष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि जिन स्थलों पर भूरे-रंगे बर्तन मिले हैं वे संभवतः आर्य संस्कृति के केंद्र थे।

यूरोप की प्रव्रजक जातियाँ अर्थात् भारत के डोम

-ए.एल.बाशम

संसार को भारत के अनेक उपहारों में हमें उन प्रव्रजनशील जातियों को अवश्य सम्मिलित करना चाहिए जो अपने संगीत तथा नृत्य के साथ यूरोप के जीवन में पाँच शताब्दियों से अधिक समय तक एक प्रेमोत्साहपूर्ण तथा अनुरंजित तत्त्व बना रहीं।

यूरोपीय प्रव्रजकों को अपने भारतीय मूल का कोई स्मरण नहीं है, प्रत्युत सामान्यतः उन्होंने स्वयं को मिस्र का आदिवासी कहा है। रूसी प्रव्रजकों ने—यह कहा जाता है—यहाँ तक घोषित किया कि उनके पूर्वज फराहून और एक युवती के अकेले सैनिक थे जो मूसा के नेतृत्व में इजराइलों के लाल सागर पर जाते समय डूबने से बच गये थे। प्रव्रजकों के मिस्र आदिवासी होने की इस कथा का कोई आन्तरिक मूल्य उस समय तक नहीं आँका गया जब तक कि १७६३ ई.में हंगेरी के एक प्रोटेस्टेण्ट दार्शनिक अध्येता स्टीफन वाल्मी ने अपने स्थान के प्रव्रजकों तथा लेडन विश्वविद्यालय में मिले हुए तीन भारतीय दार्शनिक अध्येताओं की भाषा के सादृश्य का संकेत करते हुए एक संक्षिप्त लेख का प्रकाशन नहीं किया। बहुत समय तक इस तथ्य के महत्त्व को मान्यता न मिली, परन्तु अब यह सार्वभौम रूप से मान्य है कि प्रव्रजकों की भाषा अथवा रोमानी एक भारतीय आर्य भाषा है और यह तथ्य प्रामाणिक मानने के लिए यह विचार आवश्यक है कि प्रव्रजक भारत से आये।

रोमानी और उत्तरी भारत की भाषाओं का सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट है, उन लोगों के लिए भी जिनका कोई भाषा सम्बन्धी प्रशिक्षण नहीं है, क्योंकि रोमानी के अनेक प्रचलित शब्द भारत में बहुत मिलते हैं। ये इस प्रकार हैं—

रोमानी	भारतीय आर्य भाषा	अंग्रेजी
एक	सं.एक, हिन्दी एक	वन
दुई	” द्व, ” दो	टू
त्रिन	” त्रि ” तीन	थ्री
शतार	” चत्वार ” चार	फोर
पन्ची	” पंच ” पाँच	फाइव
शो	” षष ” x	सिक्स
इफटा	ग्री.(επτ), ” x	सेविन
ओइटा	ग्री.() ” x	एट
ईन्ये	ग्री.() ” x	नाइन
देश	सं. दश ”	टेन
विश	x x ” बीस	टुएण्टी
शेल	सं.शत	हण्ड्रेड
मनुष	सं.मनुष्य	मैन
बल	सं.बाल ” बाल	हेयर
कन	सं.कर्ण ” कान	इयर
नक	x x ” नाक	नोज
थक	सं.अक्ष x	आई
कलो	सं.कल x	ब्लैक
चचो	सं.सत्य ” सच	टू

रोमानी और प्राकृत और आधुनिक भाषाओं की तुलना के द्वारा भाषा वैज्ञानिकों ने यह स्पष्ट किया है कि प्रव्रजक गंगा के मैदान के आदिवासी थे जिसे उन्होंने अशोक के समय (ई.पू.तीसरी शती) छोड़ा था और कतिपय शताब्दियों तक उत्तरी-पश्चिमी भारत में रहते रहे। सम्भवतया इस समय भी वे भ्रमणशील गायक तथा मनोविनोद करने वाले थे। आधुनिक भारत में ऐसे लोगों की एक निम्न श्रेणी की ‘डोम’ कही जाने वाली जाति है जिसकी पुष्टि प्रारम्भिक मध्ययुग

से होती है और इसी 'डोम' शब्द से शब्द 'रोम' का सम्भवतया सम्बन्ध है जिससे उन्होंने सर्वत्र अपना उत्संज्ञापन किया है। सीरिया की रोमानी में यह 'डाडम' कहा जाता है जो भारतीय रूप के अत्यन्त निकट है।

११ वीं शताब्दी के फारसी कवि फिरदौसी के अनुसार जिसने अपनी रचना शाहनामा में मुस्लिम पूर्व फारस की अनेक कथाओं तथा परम्पराओं को एकत्र किया एक सासानी राजा बहरामगदूर ने अपने राज्य में भारत से दस सहस्र गायकों को आमन्त्रित किया और उन्हें पशु, अन्न तथा गधे दिये जिससे कि वे वहाँ स्थायी रूप से बसकर अपेक्षाकृत निर्धन जनता का मनोरंजन कर सकें जिसका यह उपालम्भ था कि संगीत तथा नृत्य का सुख केवल धनिकों के लिए सुरक्षित है। परन्तु गायकों ने वहाँ बसना स्वीकार न किया। राजा के दिये हुए अन्न तथा पशु-धन को वह खा गये और उस भूमि पर भेड़ियों तथा जंगली श्वानों की भाँति भ्रमण करते रहे। सम्भव है फिरदौसी यह कहानी सत्य न परन्तु वह यह तो प्रकट करती है कि निम्न जाति के भारतीय गायक मध्य-पूर्व में बहुत पूर्व से ही प्रख्यात थे। आठवीं शती के प्रारम्भ में सिन्ध की मुस्लिम विजय के साथ भारतीय मनोविनोद प्रदान करने वालों के और समूह पश्चिम की ओर गये तत्पश्चात् बाद को अफ्रीका तथा यूरोप गये होंगे। ऐसे उल्लेख उपलब्ध हैं कि एथिनगोर्नोई नाम के जनसाधारण ८१० ईसा के उपरान्त कुस्तुनतुनिया में निवास करते थे। उत्तरकालीन वैजिण्टाइन अभिलेखों में इन एथिनगोनियों को गायक तथा जादूगर कहा गया है। सम्भवतया ये (Tsigany) सिगौनी समुदायों के अग्रदूत थे, जो उत्तरकालीन मध्ययुग के मध्य तथा पश्चिमी यूरोप में दिखाई पड़े। यूरोप में प्रब्रजकों का आदितम अभिलेख-बलकान के अतिरिक्त- जर्मनी के नगर हिल्डेशियम का है जहाँ १४०७ ई. में एक प्रब्रजनशील समूह का उल्लेख मिला है। १४२२ ई. में प्रब्रजकों का एक बड़ा दल वेसिल गया था जिसका एक नेता स्वयं को मिस्र का

राजकुमार माहकेल कहता था। कुछ ही दशकों की अवधि में वे समस्त यूरोप में फैल गये। आदितम अभिलेखों से प्रकट होता है कि उनमें अपने पूर्वजों की समस्त विशेषताएँ विद्यमान थीं- वे असावधान, काहिल, गन्दे प्रसन्नमुख, धातुकला तथा बर्तनों में टाँका लगाने में दक्ष, प्रभावपूर्ण गायक तथा नर्तक थे। उनके शरीर भड़कीले वस्त्र-आभरणों से अलंकृत थे। उनके पुरुष चालाक अश्व व्यापारी उनकी नारियाँ भविष्य बताने वाली और दोनों ही असंशयात्मक ग़ोजो (Grojo) से चोरी करने के किसी भी अवसर को नष्ट न करने वाले थे। कुछ ही समय पश्चात् प्रब्रजकों को उस भयंकर अत्याचार का अनुभव होने लगा जो यूरोप के अनेक भागों में उन्हें सहन करना पड़ा था और आज तक जिससे वे पीड़ित हैं। अनेक प्रब्रजक तृतीय रीह जर्मनी के संघीय रिपब्लिक के गैस-कक्षों में नष्ट हो गये।

रोमानी की विभिन्न बोलियों में प्रचलित अन्य भाषाओं के ग्रहीत शब्दों से हम स्थूल रूप में अनेक प्रब्रजन मार्ग का अनुसन्धान कर सकते हैं। पश्चिमी तथा मध्य यूरोप की समस्त रोमानी बोलियों में अनेक यूनानी एवं दक्षिणी सैल्बनियाँ के शब्द प्राप्य हैं जिससे सिद्ध होता है कि पश्चिमी यूरोप के प्रब्रजकों के पूर्वज बलकान के निवासी थे। स्पेन के प्रब्रजक अपने नवीन स्थान पर दो दिशाओं से आये हुए प्रतीत होते हैं। प्रथम प्रब्रजक अफ्रीका के उत्तरी तट से निस्सन्देह दक्षिण स्पेन पर मूरों के आक्रमण-काल में भिन्न होते हुए आये, और द्वितीय प्रब्रजक इसके पश्चात् पिरेनीज पहाड़ों को पार करके आये।

प्रब्रजकों की भाषा के अतिरिक्त कोई साधन अवशेष नहीं हो रहा है जो उन्हें उनके मूल स्थान से सम्बद्ध कर सके और उनकी भाषा भी यूरोप की लगभग समस्त और एशिया की अनेक बोलियों के गृहीत शब्दों से परिपूर्ण है। यद्यपि प्रब्रजकों की प्रवृत्ति सदा अपनी जाति में विवाह करने की ओर रही है

उनके भ्रमण की शताब्दियों ने प्रब्रजकों की प्रवृत्ति सदा अपनी जाति में विवाह करने की ओर रही है उनके भ्रमण की शताब्दियों ने प्रब्रजक जाति पर अपनी छाप अंकित कर दी है ओर ऐसे गौरवर्ण प्रब्रजक भी हैं जो उपयुक्तपरिधान में उत्तर भारत के नगर में अनपयुक्त प्रतीत नहीं होंगे। विश्लेषण करने पर विदित होता है कि उनका संगीत उनके मूल स्थान का संगीत है। चाहे हंगरी, स्पेन या रुमानिया हो उसका आधार स्थानीय लोक गीत एवं लोक नृत्य हैं। दुर्भाग्यवश अंग्रेज प्रब्रजक अपनी परम्परागत कला को अधिकांश भुला चुके हैं, परन्तु जब वे गाते हैं वे जनजातीय गीत एवं संगीत सभाओं के प्रेमाख्यान गाते हैं। आयरलैण्ड में टाँका लगाने वाले आयरलैण्ड के जनगीत गाते हैं। इतने पर भी प्रब्रजक जहाँ जाते हैं उनके गायक संगीत को अपनी निजी का अधिमान, स्वर-माधुर्य की सृष्टि करने वाले स्वर समुदाय की वृद्धि के द्वारा राग का स्वर विस्तार प्रारम्भ करने की प्रवृत्ति और जटिल लयों की आसक्ति सम्भवतया भारतीय संगीत परम्परा के अति जीवित रूप हैं जो प्रथम रोमेन (प्रब्रजक) अपने मूल स्थानों से अपने साथ जाये। प्रब्रजकों की कुछ लोक कथाएँ भारत की लोक कथाओं के समरूप हैं परन्तु यही बात यूरोप के प्रत्येक देश की परम्परागत लोक कथाओं के विषय में कही जा सकती हैं प्रब्रजकों की कुछ प्रथाएँ तथा कुछ विश्वास, सम्भव हैं, मूल भारतीय रूपों के अवशेष हों। यद्यपि किसी प्रकार भी प्रब्रजक लोग शरीर स्वास्थ्य ज्ञान की ओर प्रवृत्त नहीं रहे किन्तु उन्हें संस्कारात्मक शुद्धता तथा जन्म-मृत्यु सम्बन्धी निषेधों का ज्ञान है जिनसे हमें हिन्दू धर्म के कृत्यों तथा निषेधों का स्मरण हो आता है। इस प्रकार

प्रसवोपरान्त पारी अशुद्ध है और उसे अपने शिशु को लेकर काफिले तथा शिविर से बाहर रहना पड़ता है ताकि शिविर स्थान अपवित्र न हो जाये। प्रब्रजकों की दाइयाँ सम्पूर्ण जीवन अशुद्ध मानी जाती हैं और समस्त सम्भ्रान्त प्रब्रजकों के लिए भारत की जातिच्युत दाइयों की भाँति निषिद्ध हैं। शवों को अपवित्र माना जाता है और मरणआसन्न प्रब्रजकों को अपवित्रता के भय से मुक्त वायुमण्डल में मरने के लिए काफिले से पृथक हटा ले जाया जाता है। अश्व वध पर प्रब्रजकों का निषेध सम्भव है। मूलतः भारतीय हो, यह सभी सामान्यता अन्य सूत्रों से भी सिद्ध हो सकता है।

वस्तुतः प्रब्रजक अपनी वंश-परम्परा भूल गये हैं। एक प्रकार से उन्होंने अपने जन्म-स्थान की परम्पराओं को सुरक्षित रखा है। यद्यपि उन्होंने अपनी गतिविधि को समय तथा स्थान के अनुकूल बनाया है और सर्वदा नवीन प्रभावों का स्वागत किया है, वे आज भी अपने निजी नियमों के शासन में हैं और अपनी निजी आचर-संहिता का पालन करते हैं। उन्होंने उत्पीड़न तथा समानुकूलन, स्वतन्त्र सामाजिक वर्ग के रूप में समान रूप से दोनों के प्रतिकूल अपने व्यक्तित्व को साग्रह एक सामाजिक वर्ग रूप में सुरक्षित रखा है, जिसकी क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय सीमाएँ अस्पष्ट हैं जो सर्वमाना प्रथासूत्र से परम्परा सम्बद्ध है, जिनकी आजीविका के साधन सबके एकसे हैं और जिनकी शिराओं में एक ही रक्त है, इस रूप में वे भारतीय हैं। **वे अपनी प्रतिरूप डोमों के समान एक जाति हैं** और आज बीसवीं शताब्दी की नवीनताएँ भी उनके जातीय संगठन की एकता को निर्मूल करने में समर्थ नहीं हुई हैं।

विद्यार्थियों के लिए संदेश

—डॉ. अँगने लाल

उनसे गरीबी हार गई

बहुधा लोग कह देते हैं कि गरीबी के कारण अपने बच्चों को नहीं पढ़ा सकते। अथवा गरीबी के कारण हम नहीं पढ़ पाते। विद्यार्थी भी उत्तीर्ण न होने, अच्छे अंक प्राप्त न कर पाने, प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं में न बैठ पाने आदि के लिए भी गरीबी को ही दोष देते हैं। लेकिन, बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर को गरीबी के कारण लंगोटी लगाकर स्कूल जाना पड़ता था। वह ऐसा समय था, जब अछूत परिवार में उत्पन्न होने के कारण अपने हाथ से नल की टोंटी खोल कर वे पानी भी नहीं पी सकते थे **आज के समाज को देखकर यह लगता है कि बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर से (जब वे विद्यार्थी थे) शायद ही कोई विद्यार्थी अधिक गरीब हो।**

उल्लेखनीय है कि बाल्यावस्था में इस जाति-पांति के कारण जब कोई दूसरा लड़का या चपरासी नल की टोटी खोलता था, तभी वे पानी पी सकते थे। कभी-कभी तो घर वापस आकर ही पानी-पीने को मिल पाता था। स्कूल में अन्य सभी छात्रों के लिए बैठने का प्रबंध स्कूल की ओर से था परन्तु विद्यार्थी भीमराव आंबेडकर को अपना टाट-बोरा प्रतिदिन घर से ले जाना और लाना पड़ता था। उसे स्कूल में रखने के लिए भी मनाही थी। क्या आज भारत के किसी अछूत विद्यार्थी के सामने भी ऐसी समस्याएं हैं? कदाचित् नहीं हैं। बाबासाहेब आंबेडकर में निष्ठा और लगन ही थी, जिसके कारण गरीबी उनके मार्ग को अवरुद्ध न कर सकी।

जिन्हें भोजन से भी अधिक पुस्तकें प्यारी थी

बचपन में ही बाबासाहेब आंबेडकर से माता-पिता का प्यार छिन गया था। अब स्वयं उन्हें धन

कमाकर पढ़ना था। बाबासाहेब की प्रखर बुद्धि की प्रशंसा बड़ौदा के महाराजा सयाजी गायकवाड तक पहुंची। वे विद्या प्रेमी थे। उन्होंने बाबासाहेब को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका जाने के लिए विशेष छात्रवृत्ति प्रदान की। अमेरिका में जहाज से उतरते ही सबसे पहले उन्होंने अच्छी किताबों की दुकानों की जानकारी ली। उन्हें किताबों के सामने न रहने के स्थान की चिन्ता थी और न खाने की ही।

बाबासाहेब अच्छी पुस्तकों की तलाश में पुरानी पुस्तकों की दुकानें अवश्य ही खोजते थे। उन्हें उस कानून की पुस्तक की नितान्त आवश्यकता थी जिसके द्वारा सरकार ने फौज की महार बटालियन को समाप्त कर दिया था। एक दिन, एक कबाड़ी की दुकान पर वह मिल गई। उन्होंने उसे खरीद लिया। अमेरिका में बाबासाहेब ने अपने हिसाब से प्रतिदिन के खर्च का बंटवारा कर रखा था। किताब खरीदने में उस दिन के खर्च के बराबर पैसे खर्च हो गए। अस्तु उसकी पूर्ति के लिए उन्हें कई दिन भूखे रहना पड़ा। यह था उनका पुस्तकों से प्रेम।

बाद में तो बाबासाहेब ने अपनी विद्वता से बहुत धन अर्जित किया। बम्बई में अपना भवन बनवाया। जिसका नाम राजगृह रखा। उनके पास इतनी अधिक प्रस्तकें थी कि जितनी भारत में किसी के भी निजी पुस्तकालय में नहीं थी। एक बार विदेशी एक विद्वतमण्डल यह निरीक्षण करने के लिए भारत आया, कि किसका निजी पुस्तकालय सबसे बड़ा है। उसने सर तेज बहादुर सप्रू के पुस्तकालय की बड़ी प्रशंसा सुनी थी। बम्बई में कुछ पत्रकारों ने उन लोगों को बाबासाहेब आंबेडकर के पुस्तक भण्डार को भी देखने का परामर्श दिया। उक्त विद्वत मण्डल जब बाबासाहेब

के पुस्तकालय को देखकर वापस लौटा, तो पत्रकारों ने उसके विद्यय में उनसे पूछा। उस विद्वतमण्डल का मत यह था कि, “दुनिया में यदि किसी व्यक्ति ने केवल पुस्तकों के लिए ही अपना घर बनवाया है तो वह है डॉ. आंबेडकर” जब सप्रू और बाबासाहेब के पुस्तकालयों की तुलना करने के लिए उन पत्रकारों ने पूछा तो उस विद्वतमण्डल ने कहा था कि, “सप्रू का पुस्तकालय, बाबासाहेब के पुस्तकालय के सामने बच्चा है।” ज्ञानार्जन के लिए पुस्तकें आवश्यक थीं। अस्तु बाबासाहेब ने उन्हें खरीदा। जब पुस्तकें ही नहीं होंगी तो छात्र क्या पढ़ेंगे और क्या लिखेंगे?

महान अध्यवसायी

बाबासाहेब को पुस्तकों के संकलन का ही शौक नहीं था, अपितु उनको पढ़ने और समझने का भी उन्हें शौक था। अमेरिका में विद्यार्थी जीवन में कोलम्बिया विश्वविद्यालय की विशाल लाइब्रेरी की अधिकांश पुस्तकें उन्होंने पढ़ ली थी। प्रतिदिन सबसे पहले पुस्तकालय पहुंचते थे और सबसे बाद में निकलते थे। कभी-कभी यदि बैठने के लिए रिक्त स्थान नहीं मिलता, तो खड़े-खड़े ही पूरी पुस्तक पढ़ डालते थे। पढ़ी हुई पुस्तकों के साथ ही साथ नोट्स भी तैयार करते जाते थे। इसके लिए उन्होंने एक प्रकार की आशुलिपी भी तैयार कर ली थी। ऐसे तैयार किए गए नोट्स की संख्या भी काफी थी।

यही नहीं कि विद्यार्थी जीवन में ही वे इतना अधिक पढ़ते-लिखते हों। इसके बाद भी राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने पर भारत के प्रथम कानून मंत्री का गौरवपूर्ण पद संभालने पर भी उनके गंभीर अध्ययन का विद्वान भी लोहा मानते थे। जिस समय वे पार्लियामेंट में बोलते थे, लोगों का मन और बुद्धि बाबासाहेब की ओर ही रहती थी।

उन्होंने २२ प्रमुख राष्ट्रों के संविधानों का अध्ययन किया था। उनकी अच्छाइयों और बुराइयों को समझा।

भारत के प्राचीन विधायी साहित्य को भी पढ़ा और तब उन्होंने गणतंत्र भारत के संविधान की रचना की। संविधान रचना के समय भी उन्होंने बीस-बीस घंटे बैठकर लेखन कार्य किया। कहने के लिए विधान निर्मात्री समिति में सात सदस्य थे जिनमें से कुछ की मृत्यु हो गई, कुछ विदेश यात्रा पर चले गए, कुछ बीमारी का बहाना करके घर बैठ गए और शेष ने भी कोई न कोई बहाना करके असहयोग ही किया। वे शायद विधान निर्माण के कार्य में बाबासाहेब को असफल बनाना चाहते थे। परन्तु धन्य है, बाबासाहेब का वह महान व्यक्तित्व, जिसने अपने सुख और शरीर की चिन्ता न करके निर्धारित समय से पहले ही भारत का संविधान बना कर तैयार कर दिया।

अच्छे पहलवान थी थे

विद्यार्थियों को शायद ही मालूम हो कि बाबासाहेब अच्छे पहलवान भी थे। अमेरिका में अध्ययन काल में वे वहां के लोगों को भारतीय कुश्ती सिखाते थे। यह गुण उन्हें अपने पिता जी से मिला था और यही कारण था कि विद्यार्थी जीवन में यदि जरा सी भी उनसे किसी ने अपमानजनक बात की तो वे तुरन्त ही उसकी पिटाई कर बैठते थे।

वे एक क्रांतिकारी विद्यार्थी थे

प्रारंभ से ही सामाजिक और आर्थिक भेदभाव ने बाबासाहेब को क्रांतिकारी बना दिया था और इन सभी विषमताओं के प्रति विद्रोह करने के लिए उन्हें बाध्य कर दिया था। देश की आजादी के लिए बराबर ही प्रयत्नशील रहे। अमेरिका से लौटकर वे लन्दन में अर्थशास्त्र और विधि (ला) पढ़ने के लिए रुके। लन्दन से ही पी.एच.डी. और डी.एस.सी की डिग्रियां प्राप्त की और साथ ही ‘ग्रेज इन’ कालेज में ‘नाइट क्लासेज’ पढ़ कर उन्होंने बैरिस्ट्री पास की।

लन्दन में ही उनके क्रांतिकारी विचारों को सुन कर लोगों ने कहा था कि, “डॉ. आंबेडकर भारत के

सबसे महान क्रांतिकारी नेता होंगे।” यह सत्य भी हुआ। अन्य नेताओं की क्रांतियों को लोगों ने पढ़ कर भुला दिया है। लेकिन अब उन्होंने बाबासाहेब के साहित्य, विचारों और कार्यों को पढ़ना और देखना शुरु किया है अध्ययन करने पर वे स्वयं कहते हैं कि बाबासाहेब महान ही नहीं, महानतर नेता थे। मेरा अपना विश्वास है कि ज्यों-ज्यों लोग, बाबासाहेब को समझते जाएंगे, वे उनके महत्त्व को स्वीकारते जाएंगे और वह दिन शीघ्र ही आने वाला है जब लोग बाबासाहेब को महानतम व्यक्तित्व मानेंगे।

इसके अनेक कारण हैं। **समता, स्वतंत्रता, और भ्रातृत्व-भाव किसी भी राष्ट्र के स्थायित्व के लिए ये तीन स्तंभ हैं।** बाबासाहेब ने अपने समाज-दर्शन के लिए इन्हीं तीनों आधारों को चुना है। वे यह जरूर कहते थे कि, “मैंने इन शब्दों का अनुकरण फ्रांस की क्रान्ति से नहीं किया है। मेरे इस दर्शन की जड़े धर्म में हैं। मैंने उन्हें अपने गुरु बुद्ध से सीखा है।”

देश का भविष्य विद्यार्थियों पर ही निर्भर है।

बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर **विद्यार्थियों को देश के उज्ज्वल भविष्य के लिए उत्तरदायी मानते थे।** क्योंकि यही समुदाय समाज का समझदार वर्ग होता है और जनमत को प्रभावित कर सकता है। विद्यार्थियों के उत्तरदायित्वों पर प्रकाश डालते हुए बाबासाहेब ने कहा था, “हमारे समाज में शिक्षा का कुछ विकास हुआ है, लेकिन हमारे समाज के छात्र, शिक्षा प्राप्त करके जब उच्च पदों पर आसीन हो जाते हैं, तब उस समाज को भूल जाते हैं जिसने उनको यहां तक पहुंचाने में तरह-तरह के अपमान और अत्याचार सहन किए हैं। विद्यार्थियों का कर्तव्य है कि वे शिक्षा प्राप्त करके क्लर्की करने के बजाए अपने गांव मुहल्ले की सेवा करें। **जो लोग सरकारी नौकरियों में चले गए हैं, उनका कर्तव्य है कि वे समाज के उत्थान के कार्यों के लिए अपनी कमाई का बीसवां भाग (अर्थात्**

५%) स्वेच्छा से दान करते रहें। सभी समाज का विकास हो सकता है। अन्यथा एक ही परिवार सुखी होगा। जो लड़का गांव में पढ़ता है उससे पूरे समाज को आशा होती है कि वही उनका मार्गदर्शक होगा। अतः समाज की उन्नति को ही अपनी उन्नति समझो।”

शिक्षा को वे समाज उत्थान की कुंजी मानते थे। इसीलिए उन्होंने बम्बई में विशाल सिद्धार्थ कालेज तथा अजन्ता और एलोरा के ऐतिहासिक और प्राकृतिक समृद्धिपूर्ण क्षेत्र में स्थित औरंगाबाद में मिलिन्द कालेज की स्थापना की थी। जिसमें लगभग १२ हजार छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। आजकल मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का नाम बाबासाहेब विश्वविद्यालय रखने की मांग चल रही है। आंदोलन हो रहे हैं और साथ ही नर संहार भी हो रहा है। आखिर लोग बाबासाहेब का नाम उसके साथ क्यों जोड़ना चाहते हैं? उसका प्रमुख कारण यह है कि मराठवाड़ा क्षेत्र में बाबासाहेब ने शिक्षा प्रसार का कार्य सबसे पहले प्रारंभ किया था। वहां की अधिकांश शिक्षा, संस्थाएं, कालेज और डिग्री कालेज उन्हीं की देन हैं। काश, देश का सजग प्रहरी विद्यार्थी समाज इस बात को समझ पाता और उस क्षेत्र में बाबासाहेब के महान योगदान को मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के साथ उनका नाम जोड़ कर स्मरण रख पाता।

डॉ. आंबेडकर ने विभिन्न विषयों पर दर्जनों ग्रंथ लिखे। मुख्य रूप से प्रत्येक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का समाधान उन्होंने अलग-अलग ग्रंथ लिखकर प्रस्तुत किया। उसके प्रमुख ग्रंथ-शूद्र कौन थे, अछूत कौन और कैसे? जाति भेद का उच्छेद, रुपये की समस्या, रानडे गांधी और जिन्ना, मिस्टर गांधी और उनका अछूतोद्धार, गांधी ओर कांग्रेस ने अछूतों के लिए क्या किया, पाकिस्तान पर विचार, पाकिस्तान या भारत विभाजन, भाषायी प्रदेश, भगवान बुद्ध और उनका धम्म, आदि हैं।

उनकी बहुमुखी विद्वत्ता को देखकर ही बर्मा के तत्कालीन प्रधानमंत्री माननीय ऊनू ने कहा था कि, “निःसंदेह रूप से डॉ. आंबेडकर को इस बात के लिए सबसे अधिक याद किया जाएगा कि वे हिन्दू समाज की सभी दमनकारी बातों के विरुद्ध एक प्रतीक थे। उन सभी बातों के विरुद्ध विद्रोह किया जिनके विरुद्ध सबको विद्रोह करना चाहिए।” उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि, “जिस वर्ग में उनका जन्म हुआ था, उसमें यदि मैं भी पैदा हुआ होता, तो मैं भी वही करता जो उन्होंने किया।”

इस प्रकार आज की भयानक परिस्थितियों में

विद्यार्थी समाज बाबासाहेब के जीवन और कार्यों से प्रेरणा ले सकता है और उन्हें अपने जीवन का आदर्श बना सकता है तथा आगे देश को सम्मान शिखर पर पहुंचा सकता है।

संदर्भ:

१. जब यह लेख लिखा गया था, उस समय मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का नाम नहीं बदला गया था। लेकिन अब मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के साथ बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर का नाम जोड़ कर उसका नाम ‘बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय’ कर दिया गया है।’

कानूनी मान्यता से बड़ी है, धार्मिक मान्यता

यह मानना पड़ेगा कि जाति की गाड़ी को आगे चलाते रहनेवाले दो शक्तिशाली इंजन थे— कानून और धर्म। निस्संदेह इन दोनों में से धार्मिक मान्यता प्रमुख मान्यता थी और जाति को केवल धार्मिक मान्यता के बल पर जीवित रखा गया। यह दो कारणों से और भी स्पष्ट हो जाता है। यह मानना पड़ेगा कि कानूनी मान्यता का सहारा तो कभी-कभी ही लिया गया। इसका अर्थ है कि जाति को अन्य साधनों से जिंदा रखा गया। दूसरे, कानूनी मान्यता का उपयोग केवल १८५० तक किया गया। उस वर्ष ब्रिटिश सरकार ने जाति अयोग्यता निवारण अधिनियम (कास्ट डिसेम्बिलिटीज रिमूवल एक्ट) बनाकर इस पर से कानूनी मान्यता उठा ली, या यूँ कहें कि समाप्त ही कर दी गई थी। हालांकि कानूनी मान्यता वापस ले ली गई, पर जाति को बराबर मान्यता मिलती रही। उसमें कोई कमी नहीं आई। यदि जाति को कानूनी मान्यता के अलावा धार्मिक मान्यता न प्राप्त होती, जो उससे भी अधिक शक्तिशाली थी, तो जाति का बना रहना संभव नहीं था।

यह निर्विवाद है कि धार्मिक मान्यता से अधिक शक्तिशाली कोई और मान्यता नहीं हो सकती, जिसे कोई संस्था या आस्था अपने अस्तित्व को बनाए रखने और उसे पुष्ट करने के लिए अर्जित कर सकती है। उसकी शक्ति अनंत है और उसका शिकंजा फौलादी है।

—डा.अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-१०, पृ.७८

बंगाल का विस्मृत नामशूद्र आंदोलन

-ए.के.बिस्वास

इतिहास हमें बताता है कि समाज सुधार आंदोलन और सामाजिक न्याय के संघर्ष, एक दूसरे के पूरक नहीं होते बल्कि वे परस्पर-विरोधी और असंगत होते हैं। औपनिवेशिक बंगाल में १९वीं और २० वीं सदी में सामाजिक सुधार और सामाजिक न्याय के आंदोलन एक-दूसरे के समानांतर चले। जहां सामाजिक सुधार आंदोलन का उद्देश्य ऊँची जातियों के घिसे-पिटे दकियानूसी कर्मकांडों और परंपराओं जैसे सती, बहुपत्नी प्रथा, भारी-भरकम दहेज, बाल-विवाह, बच्चों को गंगा सागर में फेंकना, अंतरजली यात्रा इत्यादि को उखाड़ फेंकना था, वहीं सामाजिक न्याय, आंदोलन का लक्ष्य अशिक्षा का नाश और समाज के निचले वर्गों में मानवीय गरिमा की अलख जगाना था। जहां सामाजिक सुधार आंदोलनों की भारतीय इतिहासविदों ने भूरी-भूरी प्रशंसा की, वहीं सामाजिक न्याय आंदोलन को इतिहास के अंधेरे में गुम हो जाने दिया।

बंगाली बौद्धिक वर्ग, पश्चिमी शिक्षा प्राप्त करने और उदारवादी मानवीय मूल्यों, विज्ञान के सिद्धांतों और आधुनिक ज्ञान से परिचित होने के बावजूद, जाति की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। २०वीं सदी के पूर्वार्द्ध का एक दस्तावेज यह बतलाता है कि ब्राह्मण और अन्य ऊँची जातियां, पूर्वी बंगाल (अब बांग्लादेश) की सबसे बड़ी हिंदू जाति चांडाल के बारे में क्या सोचते थे। “(१) चांडाल गांवों के बाहर रहते हैं; (२) कुत्ते और गधे उनकी संपत्ति हैं; (३) वे शवों से उतारे गए चिथड़े पहनते हैं; (४) वे आवारा होते हैं; (५) उनका मुख्य पेशा शवों को जलाना है; (६) वे राजा के आदेश पर अपराधियों को फांसी पर चढ़ाते हैं; (७) वे अछूत हैं।” अपने एक लेख में, बंकिमचंद्र

चटर्जी ने बंगाल के चांडालों के बारे में मनु के दकियानुसी विचारों को उचित ठहराया था। चांडाल, बंगाल के सामाजिक न्याय आंदोलन के अगुवा थे।

पहली ‘आम हड़ताल’

ऊँची जातियों के दमनचक्र और शोषण ने चांडालों को उन्हें सताने वालों के खिलाफ आवाज उठाने के लिए प्रेरित किया। फरीयादपुर के जिला मजिस्ट्रेट सीए कैली ने ८ अप्रैल, १८७३ को ढाका के संभागीय आयुक्त को चिट्ठी लिखकर सूचित किया कि उस साल चांडालों ने “जिले में आम हड़ताल की और यह निर्णय किया कि वे उच्च वर्ग के किसी भी सदस्य की किसी भी हैसियत से सेवा नहीं करेंगे, जब तक कि उन्हें हिंदू जातियों में उससे बेहतर स्थान प्राप्त न हो जाए, जो उन्हें वर्तमान में प्राप्त है।”

एक समकालीन इतिहासविद ने इस हड़ताल को ऊँची जातियों का सामाजिक बहिष्कार निरूपित किया। चांडालों ने तय किया कि वे न तो ऊँची जातियों के लोगों की जमीनें जोतेंगे और न ही उनके घरों की छतों को फूस से ढकेंगे। यह हड़ताल चार से पांच महीने चली। यह भारत की पहली ऐसी आम हड़ताल थी, जिसके संबंध में अधिकारिक अभिलेख उपलब्ध है। अन्य जिलों जैसे बारीसाल, ढाका, जैसोर, मैमनसिंह व सिलहट के चांडालों ने भी फरीदपुर के अपने साथियों से हाथ मिला लिया। सन १८७१ की जनगणना के अनुसार, बंगाल में १६,२०,५४५ चांडाल थे। इन पांच विशाल जिलों के हड़ताली चांडालों की संख्या ११,९१,२०४ (कुल आबादी का ७४ प्रतिशत) थी। भद्रलोक (ब्राह्मणों, बैद्यों और कायस्थों का जाति सिंडीकेट) को निशाना बनाने वाली इस विशाल हड़ताल

की सफलता, निरक्षर चांडालों की संगठनात्मक और परस्पर एकता कायम करने की क्षमता का द्योतक थी।

चांडालों ने यह संकल्प किया कि वे शिक्षा के जरिए अपनी सामाजिक हैसियत में सुधार लायेंगे और अपना विकास करेंगे। इस सामाजिक-शैक्षणिक आंदोलन के केंद्र, फरीदपुर के चांडालों की शैक्षणिक स्थिति दयनीय थी। ऊँची जातियां, पददलित वर्गों को किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने देने के सख्त खिलाफ थी। ब्राह्मण और कायस्थ यह मानते थे कि शिक्षा उनकी बपौती है। चांडाल और मुसलमान इस पूर्वग्रह के सबसे बड़े शिकार थे। **फरीदपुर में १,५६,००० चांडाल रहते थे परंतु केवल २०० चांडाल बच्चे स्कूल जाते थे।**

हरी चंद ठाकुर (१८१२-१८७७) व उनके प्रतिभाशाली पुत्र **गुरुचंद ठाकुर** (१८४७-१८३७) ने इस निरक्षर व अज्ञानी समुदाय को शिक्षित करना अपना मिशन बनाया। हरी चंद ठाकुर ने **मातुआ पंथ** की स्थापना की, जो कापाली, पोंड्रो, मालों व मूची जातियों में बहुत लोकप्रिय हुआ। दोनों ने पिछड़ों को उन्नति के लिए शिक्षा को एक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किए जाने पर जोर दिया। इस सामाजिक न्याय आंदोलन को आस्ट्रेलियाई बैप्टिस्ट मिशनरी डॉ.सीएस मीड ने अपना पूरा सहयोग और समर्थन दिया। फरीदपुर जिले में ठाकुर के पैतृक गांव ओराकंडी में नामशूद्र, अंग्रेजी माध्यम का स्कूल खोलना चाहते थे ताकि निरक्षर व अज्ञानी किसानों को लगान और ऋण चुकाने में उच्च जातियों के जमींदारों और साहूकारों द्वारा उनके साथ ही की जा रही धोखधड़ी से उन्हें बचाया जा सके। इस प्रस्ताव का स्थानीय ऊँची जातियों के कायस्थों ने कड़ा विरोध किया क्योंकि उन्हें डर था कि शिक्षित हो जाने के बाद, बटाई पर खेती करने वाले किसान

और उनके सेवक काम नहीं करेंगे। भद्रलोकों के विरोध के चलते, गुरुचंद ठाकुर ने डॉ. मीड से सहायता मांगी। मीड ने उन्हें न केवल स्कूल के लिए आर्थिक मदद उपलब्ध करवाई वरन अंग्रेज अफसरों से उनका परिचय भी करवाया। यह नामशूद्रों के सशक्तिकरण की ओर एक प्रभावी कदम था।

मील का पत्थर

सन १८८१ में खुलना जिले के दत्ताडंगा में अखिल-बंगाल नामशूद्र सम्मेलन हुआ। पूरे बंगाल से हजारों नामशूद्रों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। सम्मेलन की अध्यक्षता गुरुचंद ठाकुर ने की। इस सम्मेलन में शिक्षा के संबंध में जो संकल्प पारित किए गए, वे सामाजिक उत्थान की राह में मील के पत्थर साबित हुए। इसके बाद से, हर वर्ष सामाजिक और शैक्षणिक मुद्दों पर विचार-विनियम के लिए अलग-अलग जिलों में नामशूद्र सम्मेलनों का आयोजन शुरू हो गया। हर नामशूद्र गांव में एक समिति गठित की गई। पंद्रह ग्रामीण समितियों का एक संकुल बनाया गया और हर जिले में जिला समिति का गठन हुआ। ग्रामीण, संकुल व जिला समितियों को यह अधिकार दिया गया कि वे **‘नामशूद्र अंशदान कोष’** के लिए चंदा इकट्ठा कर सकें। **हर परिवार अपना भोजन शुरू करने के लिए पहले मुट्ठीभर चावल अलग रख देता था**, जो गांव की समिति को जाता था। गांव की समिति का हर सदस्य एक आना प्रतिमास का चंदा देता था, संसकुल समिति के सदस्य दो आने और जिला समिति के सदस्य चार आने प्रतिमास चंदे के रूप में देते थे। श्राद्ध, विवाह और अन्य मौकों पर परिवार अपने २० साल से कम उम्र के लड़कों या १० साल से कम उम्र की लड़कियों का विवाह करते थे, उन्हें जात बाहर कर दिया जाता था।

शनैः शनैः ओराकंडी, नामशूद्र आंदोलन का केंद्र बन गया। गुरुचंद ठाकुर के उतसाही नेतृत्व में नामशूद्रों की बड़ी आबादी वाले क्षेत्रों में सैकड़ों प्राथमिक स्कूल खोले गए। जब भी कोई नामशूद्र, गुरुचंद से मिलकर मातुआ पंथ में शामिल होने की इच्छा व्यक्त करता था, वे उसे यह सलाह देते थे कि वह अपने गांव में एक स्कूल शुरू करे। स्वच्छता भी उनकी प्राथमिकताओं में से एक थी और वे उनसे मिलने वाले लोगों से कहा करते थे कि सभी को अपने घरों में शौचालयों का निर्माण करना चाहिए।

सन १९०८ में फरीदपुर के ओराकंडी गांव में अंग्रेजी माध्यम का पहला हाईस्कूल स्थापित हुआ। मुसलमानों और पिछड़े वर्गों की महत्वाकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए, पूर्वी बंगाल व असम के गवर्नर ने 'द प्रप्रोर्शनल रिप्रजेंटेशन ऑफ कम्प्युनिटीज इन पब्लिक एम्पायमेंट एक्ट (सार्वजनिक नियोजन में आनुपातिक सामुदायिक प्रतिनिधित्व अधिनियम) लागू किया। इसी साल, कुमुद बिहारी मल्लिक, बंगाल के पहले नामशूद्र व अछूत डिप्टी मजिस्ट्रेट बने। कैथरीन मेथो ने अपनी पुस्तक 'मदर इंडिया' (१९२७) में लिखा कि तत्समय लगभग ४,९०० नामशूद्र लड़के मैट्रिक पास करने के लिए अध्ययनरत थे और २०० स्नातक बन चुके थे। कलकत्ता में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए जब नामशूद्रों ने होस्टलों में स्थान प्राप्त करने का प्रयास किया तो उनका 'अछूत' का दर्जा इसके आड़े आने लगा। नामशूद्रों के प्रतिनिधिमंडल ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति से मिलकर इस समस्या के बारे में उन्हें बताया। इसके बाद, १९१७ में विश्वविद्यालय ने शहर में अछूतों के होस्टल के लिए एक अलग भवन किराए पर लिया।

सन १८८५ में पुन्वेनन बिस्वास नामक एक नामशूद्र को आस्ट्रेलिया भेजा गया, जहां उन्होंने साऊथ

आस्ट्रेलियन बैप्टिस्ट मिशन के पदाधिकारियों से मिलकर यह अनुरोध किया कि वे पांच महिला मिशनरियों को पूर्वी बंगाल भेजें ताकि अछूत ग्रामीण महिलाओं को शिक्षित किया जा सके। पांच मिशनरी सिस्टर्स पूर्वी बंगाल पहुंची और उन्होंने इन वंचित महिलाओं को शिक्षित करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। मीड की पत्नी और उनकी लड़कियां पहले से ही फरीदपुर में थीं।

चांडाल से नामशूद्र

१९०१ से कई जातियों ने बंगाल सरकार को आवेदन देकर यह अनुरोध किया कि उनकी जाति का नाम बदला जाए और उन्हें जाति पदानुक्रम में बेहतर स्थान दिया जाए। सन १९११ तक इस तरह के आवेदनों के ढेर का वजन करीब ५७ किलो हो चुका था। बाभन जो अपने को भूमिहार कहते हैं), ब्रह्मर्षि ब्राह्मण कहलाना चाहते थे, बंगाली कायस्थों का मानना था कि उन्हें क्षत्रिय का दर्जा मिलना चाहिए और वैद्य, ब्राह्मण कहलाना चाहते थे। इन सभी मांगों को सरकार ने खारिज कर दिया। केवल दो अभ्यावेदनों-चांडालों द्वारा अपने को नामशूद्र कहलाने और काइबरता द्वारा माहिष्य के रूप में पुनः नामकरण-की मांगे स्वीकार की गईं। चांडालों ने अपनी इस मांग को स्वीकार करवाने के लिए बहुत प्रयास किया था। प्रेसीडेन्सी संभाग के आयुक्त एफबी पीकाँक ने अपने एक पत्र (क्रम संख्या ८७, दिनांक १८ जुलाई, १८८१) में लिखा "चांडाल, जो यहां (जैसोर जिले के नारेल अनुभाग) के सबसे बड़े कृषक समुदाय हैं, की स्थिति में सुधार होने के कारण वे अब हिंदू जाति व्यवस्था में बेहतर दर्जा चाहते हैं। वे स्वयं को नामशूद्र कहते हैं और अपने आप को वैष्णव बताते हैं।"

सन १९०५ में, बंगाल में राजनैतिक और सामाजिक नेताओं ने लार्ड कर्जन द्वारा प्रशासनिक

सुविधा के लिए बंगाल को पूर्वी व पश्चिमी बंगाल में विभाजित करने के निर्णय के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया। इस आंदोलन के एक बड़े नेता सर सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने ५८ वर्षीय गुरुचंद ठाकुर और उनके अनुयायियों का समर्थन मांगा। गुरुचंद ने एक मार्मिक पत्र लिखकर बेनर्जी से कहा: “नामशूद्र बहुत गरीब है। वे किसी प्रकार के ऐश्वर्य का भोग नहीं करते और ना ही वे जानते हैं कि ऐश्वर्य क्या होता है। सस्ता आयातित कपडा वह एकमात्र विदेशी सामान है, जिसका वे इस्तेमाल करते हैं। आयातित सामान का इस्तेमाल करने की आदत तो ऊँची जातियों की है। इसलिए यह आंदोलन (बहिष्कार) केवल ऊँची जातियों तक सीमित रहना चाहिए। नामशूद्रों को अब तक कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं है, वे दमित हैं और उनका उनकी ही धरती पर अत्यंत क्रूरतापूर्वक शोषण किया जा रहा है। ऊँची जातियों के हिंदू उन्हें किसी भी प्रकार के राजनैतिक अधिकार दिए जाने के सख्त खिलाफ हैं। इसलिए जब तक वे नीची जातियों के प्रति बंधुत्व का भाव नहीं रखेंगे, तब तक नीची जातियां उच्च जातियों के हिंदुओं द्वारा अंग्रेजों के खिलाफ चलाए जा रहे किसी भी आंदोलन में भाग नहीं लेंगी”

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने मैमनसिंह में १९२५ में आयोजित नामशूद्रों के वार्षिक सम्मेलन में भाग लिया था। हिंदू बौद्धिक वर्ग ने जानते-बूझते इस तथ्य को दबा दिया।

नामशूद्र समुदाय ने साईमन आयोग के समक्ष दो ज्ञापन प्रस्तुत किए। फरवरी १९२८ में ‘अखिल बंगाल दमित वर्ग संगठन’ ने भी आयोग के समक्ष ज्ञापन प्रस्तुत किया और नामशूद्र समुदाय द्वारा प्रस्तुत ज्ञापनों को अंगीकार करते हुए कहा कि ये ज्ञापन भी उसके हितों का प्रतिधित्व करते हैं। इन दोनों संगठनों के नौ नेताओं ने संयुक्त रूप से आयोग के समक्ष २९ जुलाई,

१९२९ को कलकत्ता में अपना पक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रस्तुतिकरण का अभिलेख उपलब्ध है। प्रतिनिधियों ने बंगाल के सामाजिक-आर्थिक व सांस्कृतिक यथार्थ से कमीशन को परिचित करवाया और अपनी महत्वाकांक्षाओं का वर्णन किया। उनकी एक मांग यह थी कि **“जब तक कि सरकारी सेवाओं में पहले से ही जमे लोगों को संख्या उनके बराबर न हो जाए” तब तक केवल मुसलमानों सहित दमित वर्गों के उम्मीदवारों की नियुक्तियां की जानी चाहिए।** उनका उद्देश्य प्रशासन में **भद्रलोक के एकाधिकार** को समाप्त करना था। उन्होंने कहा कि **एक बहुत छोटे अल्पसंख्यक वर्ग का न्यायपालिका पर वर्चस्व, देश के लिए अभिशाप है** और यह प्रस्ताव किया कि केंद्रीय व राज्य सरकारों में नियुक्तियों के लिए सेवा आयोगों की स्थापना की जाए। उन्होंने कहा कि केंद्रीय आयोग का अध्यक्ष गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद का कोई यूरोपियन सदस्य होना चाहिए और राज्य सेवा आयोगों के अध्यक्ष, गवर्नर की कार्यपरिषद का यूरोपीय सदस्य। इस प्रकार उन्होंने यह साफ कर दिया कि उन्हें ऊँची जातियों के भारतीयों पर कतई भरोसा नहीं है। वे चाहते थे कि देश में **‘निःशुल्क व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा’** व्यवस्था लागू की जानी चाहिए। भद्रलोक को कटघरे में खड़ा करते हुए दमित वर्गों के नेताओं ने कहा कि ऊँची जातियां ऐसा व्यवहार करती हैं मानो वे ‘भारतीय जनता की दिव्य संरक्षक’ है।

गुरुचंद ने जमींदारों द्वारा किए जा रहे शोषण के खिलाफ भी अभियान चलाया। सन १९२१ में बंगाल विधानपरिषद के सदस्यों मुकुंद बिहारी मल्लिक व भीष्मदेव दास ने मांग की कि ऐसा कानून बनाया जाए कि फसल का दो-तिहाई हिस्सा बटाई पर खेती करने वाले को मिलेगा। यहीं से तिभागा आंदोलन का बीजारोपण हुआ, जिसे बाद में बंगाली साम्यवादियों

ने किसानों के पक्ष में अपने आंदोलन के लिए अपनाया। बंगाल में सन १९३७ में हुए विधानमंडल चुनाव में ३० निर्वाचन क्षेत्र आरक्षित थे और इनमें से १२ में नामशूद्रों ने विजय हासिल की। विजयी उम्मीदवारों में से १० गुरुचंद के अनुयायी थे और २ कांग्रेस के प्रतिनिधि थे। सभी गुरुचंद के व्यक्तित्व से गहरे तक प्रभावित थे। डॉ. सीएस मीड ने गुरुचंद को अपनी श्रद्धांजलि इन शब्दों में दी: “वे ऐसी उदार सोच, साहस और दूरदृष्टि के धनी थे जो कि दकियानूसी समाज के पुरुषों में बहुत कम ही पाई जाती है। उन्होंने महान नामशूद्र जाति की उन्नति के लिए बहुत कुछ किया। वे उनकी ऋणी हैं और मैं भी उनका उतना ही ऋणी हूँ।”

सन १९४६ में डॉ. बी.आर. आंबेडकर का संविधानसभा के सदस्य के रूप में बंगाल से चुनाव, बंगाली अछूतों के प्रतिनिधियों जैसे जोगेन्द्रनाथ मंडल, मुकुन्दबिहारी मल्लिक, द्वारिकानाथ बरुई, नागेन्द्र नाथ राय व क्षेत्रनाथ सिंह की राजनीतिक परिपक्वता और दूरदृष्टि का उदाहरण था। ये सभी लोग फरीदपुर, जैसोर, खुलना और बारीसाल जिलों से थे। बंगाली दलितों को यह संदेह है कि **डॉ. आंबेडकर को संविधानसभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित करने की सजा स्वरूप ही नामशूद्रों की बड़ी आबादी वाले इन जिलों को पाकिस्तान का हिस्सा बना दिया गया।** इन अछूतों को पर्दे के पीछे से संविधान निर्माण में भूमिका को मान्यता मिलना बाकी है।

विदेशियों ने भारत आने के बाद भारत के साथ ही एक बहुत बड़ा उपकार किया कि संस्कृत भाषा का अधिकांश लेखन प्रकाशित किया मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, ए.बी.कीथ, मैक्डोनेल जैसे पचासों विद्वानों ने ब्राह्मणों द्वारा छुपाकर रखे प्रतुल साहित्य का न सिर्फ उद्धार किया बल्कि उनको व्यवस्थित और व्याख्यायित भी किया भारतीय अतीत के ब्राह्मण साहित्य को समझने के लिए मोनियर विलियम्स के बृहत् ‘संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी’ नामक शब्दकोश और मैक्डोनेल के ‘वैदिक इण्डेक्स’ जैसे काम आज खुद ब्राह्मण विचारकों के लिए सबसे बड़े भरोसे हैं। वेदों की प्रति अंग्रेज ने कैसे प्राप्त की, यह एक छोटी-मोटी जासूसी कथा ही है।

भारत का ब्राह्मण घोर अतीतजीवी रहा है। पुराण उसकी जान बन रहे हैं, पर पुरातन का ऐतिहासिक प्रामाणिक परिक्षण करने से वह घृणा करता रहा है। इसीलिए उन्होंने कभी भारतीय अतीत के इतिहास को उजागर नहीं होने दिया।

—मुद्राराक्षस (धर्मग्रन्थों का पुनर्पाठ से)

ओमप्रकाश वाल्मीकि का इतिहास-बोध

-कँवल भारती

हिन्दी में सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कविता, कहानी और आत्मकथा के माध्यम से दलित साहित्य को जितना समृद्ध किया, उतना ही आलोचना के माध्यम से उनको नुकसान भी पहुँचाया। उनके सृजनात्मक साहित्य की सारी अनुभूतियाँ हिन्दी क्षेत्र की हैं, पर उसी तरह आलोचना में उनका चिन्तन हिन्दी क्षेत्र का नहीं है। आलोचना में वे अपने इतिहास-बोध में पूरी तरह मराठी की जमीन पर खड़े हैं, जो हिन्दी क्षेत्र से ज्यादा परिचित नहीं है। इसलिए यह अत्यन्त दुखद है कि वे आलोचना में हिन्दी की पूरी चिन्तन-परम्परा से कटे हुए हैं और कबीर, रैदास, हीरा डोम, अछूतानन्द, केवलानन्द और अयोध्या नाथ दण्डी आदि किसी के भी अवदान को उन्होंने समझने की कोशिश ही नहीं की। इस सन्दर्भ में मैं यहाँ उनकी आलोचना-पुस्तक 'दलितसाहित्य : अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ' में संकलित उनके लेख 'हिन्दी दलित कविता और सन्त साहित्य' पर कुछ विचार करना आवश्यक समझता हूँ।

वे लेख के आरम्भ में ही दलित कविता की संघर्ष-यात्रा को रेखांकित करते हुए लिखते हैं- 'वह यदि तथाकथित सृष्टि निर्माता या ईश्वर से भी अपनी शिकायत दर्ज करता तो उसके अन्तस में बसी हीनता उसे गिड़गिड़ाहट को ही बाध्य करती थी। सन्तों की वाणी में यह गिड़गिड़ाहट साफ तौर पर देखी जा सकती है।' (पृष्ठ ५७) यहाँ उन्होंने अपनी अज्ञानता का परिचय दिया है। उन्हें यदि कबीर-रैदास की परम्परा का ज्ञान होता तो वे देख सकते थे कि जिस हीनता और गिड़गिड़ाहट की बात वे कर रहे हैं, उसका लेश मात्र भी कबीर-रैदास में नहीं है। उन्होंने ब्राह्मण की आँखों में दम्भ को भी चकनाचूर किया है। यह कबीर ही थे, जिन्होंने दोनों हाथ उठाकर घोषणा की थी कि **ब्राह्मण कहता रहे अपने को जगतगुरु, पर वह निर्गुण**

साधुओं का कदापि गुरु नहीं हो सकता। यह कबीर ही थे, जिन्होंने ब्राह्मण के लिए कहा था कि यदि वह जन्मजात उच्च पैदा हुआ है, तो वह किसी अन्य द्वार से क्यों नहीं पैदा हुआ? यथा -

ब्राह्मण गुरु जगत का, साधु का गुरु नहीं।

उरझि-पुरझि कर मरि रहा, चरिउ वेदा माहीं।।

जौ तू बांभन बंभनी आया,

तौ आन वाट काहे नहीं आया।

वर्णव्यवस्था, ब्राह्मणी सत्ता और ब्राह्मण-शास्त्रों को नकारने वाले दलित सन्तों के बारे में वाल्मीकि की जानकारी कितनी सही है, यह उनके इस विचार से पता चलता है- 'बिखरती हिन्दू सत्ता व वर्णव्यवस्था को कमजोर करने के बजाय उसे और ज्यादा मजबूत बनाने और उसका व्यापक प्रचार-प्रसार करने में सन्त साहित्य की भूमिका रही है। इससे वर्णव्यवस्था की वैचारिकता को बल मिला।' (पृष्ठ ५७-५८) ओमप्रकाश वाल्मीकि **ब्राह्मणसन्तों** और **दलित सन्तों** में अन्तर नहीं कर पाये, यह उनके अध्ययन की कमजोरी है। इसी कमजोरी की वजह से वे दलित साहित्य को सन्त साहित्य से जोड़कर देखने का भी विरोध करते हैं। वे खण्डन के इरादे से डॉ. चमनलाल का मत उद्धृत करते हैं-

'आधुनिक दलित साहित्य ने भी अपनी पहचान समाज के विकृत जातिगत ढाँचे के प्रति अपना आक्रोश जताकर की है। इस सन्दर्भ में आधुनिक दलित साहित्य की जड़े कबीर और रविदास की वाणी में देखी जा सकती हैं। इसलिए इस तथ्य को यहाँ रेखांकित किया जा सकता है कि सही मायनों में कबीर और रविदास हिन्दी दलित साहित्य के अग्रदूत हैं। उत्तरी भारत में दलित साहित्य का आरम्भ कबीर और रविदास से माना जाना चाहिए और वहीं से दलित साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाना चाहिए।' (पृष्ठ ५८)

डॉ. चमनलाल ने कुछ भी गलत नहीं कहा है। वे बिल्कुल ठीक कहते हैं कि आधुनिक दलित साहित्य की जड़ें कबीर और रविदास की वाणी में देखी जा सकती हैं। यह इतिहास की सही जानकारी है। किन्तु वाल्मीकि जी डॉ. चमनलाल के सभी ऐतिहासिक सन्दर्भों को अनदेखा करते हुए सिर्फ जाति-विरोध को ही दलित साहित्य समझने का तर्क देते दिखाई देते हैं। दलित साहित्य की अन्तःचेतना, जिसे दलित चेतना कहा जाता है, जो साहित्य को दलित साहित्य में परिवर्तित करती है, को न देखने की प्रवृत्ति यहाँ दिखाई देती है।' (वही)

निश्चित रूप से यह वाल्मीकि जी की कमजोरी थी कि उन्होंने कबीर और रैदास (रविदास) का विधिवत अध्ययन नहीं किया था, अन्यथा वे कबीर और रैदास की वाणी में दलित चेतना के संघर्ष को जरूर देखते। लेकिन हमारे लिए यह जानना जरूरी है कि उन्होंने किस आधार पर कबीर-रैदास की दलित चेतना को खारिज किया था? इसके लिए यह जानना जरूरी है कि दलित चेतना से उनका अभिप्राय क्या था? वे अपनी दलित चेतना को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-

“वैचारिक रूप से दलित चेतना बन्धुता और स्वतन्त्रता की पक्षधर है। अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, पुनर्जन्म, ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था का विरोध, आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद का विरोध, स्त्री के प्रति समानता का भाव आदि विशिष्ट बिन्दु हैं, जो दलित चेतना के सरोकारों में शामिल हैं। दलित चेतना का सरोकार इन प्रश्नों से बहुत गहरे तक जुड़ा है कि ‘मैं कौन हूँ’, ‘मेरी पहचान क्या है?’” (पृष्ठ ५९-६०)

दलित चेतना के ये सारे सरोकार, जो आधुनिक दलित साहित्य के सरोकार हैं, पन्द्रहवीं सदी के कबीर और रैदास के काव्य में भी पूरी जीवन्तता के साथ मौजूद हैं। समस्या वाल्मीकि जी के अध्ययन की हैं यद्यपि निर्गुणवाद उस अर्थ में ईश्वरवाद नहीं है, जिस अर्थ में ब्राह्मणवाद उसे सृष्टिकर्ता और भाग्यविधाता

के रूप में मानता है। कबीर-रैदास का ईश्वर गुण-विहीन है, जो न किसी को पैदा करता है और न किसी को मृत्यु देता है। इसके लिए भी तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को समझना जरूरी है। वह लोक का नहीं, बल्कि मुस्लिम सुलतान की राजशाही का युग था, जिनकी नजर में ईश्वर निन्दा अपराध था और उसकी सजा मौत से कम नहीं थी। क्या कबीर-रैदास अनीश्वरवादी बनकर जिन्दा रह सकते थे? शायद इसीलिए उन्हें अपनी वैचारिक लड़ाई को जारी रखने के लिए ईश्वर के रूप में उस निर्गुण को स्थापित करना पड़ा, जो अद्वैतवादी ब्राह्मणों और एकेश्वरवादी मुस्लिम धर्मगुरुओं की आँखों में धूल झोंकने के लिए एक क्रान्तिकारी आड़ थी। इसलिए उन्होंने बुद्ध की तरह चार तत्त्वों से नहीं, पाँच तत्त्वों से जीव उत्पत्ति मानी, पर बुद्ध के इस मत का समर्थन किया कि जीव के करने पर कुछ भी शेष नहीं रहता, सभी तत्त्व बिछड़ जाते हैं। इसी बिना पर कबीर ने परलोक को नहीं माना तथा आवागमन, पुनर्जन्म और वैकुण्ठ का भी खण्डन किया। यथा-

पाणी पवन अवनि नभ पावक, तिहि संग सदा बसेरा।
कहै कबीर मन मन करि बेध्या, बहुरि न कीया फेरा।।
अपने परचै लागी तारी, अपन पै आप समानाँ।
कहै कबीर जे आप बिचारे, मिटि गया आवन जानाँ।।
चलन चलन सबको कहत है, नाँ जानौँ बैकुण्ठ कहाँ है।
जोजन एक प्रमिति नहिं जानै, बातनि की बैकुण्ठ बखानै।।

ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था का विरोध कबीर और रैदास ने सबसे ज्यादा किया है। रैदास दृष्टि में ब्राह्मणी व्यवस्था श्रमिक-विरोधी है। वे ब्राह्मण को नहीं, श्रमिक को महत्त्व देते हैं। यथा-

धरम करम जानै नहीं, मन मह जाति अभिमान।
ऐसे ब्राह्मण सो भलो, रविदास श्रमिकहु जान।।
कबीर और रैदास दोनों की वर्णव्यवस्था का खण्डन करते हैं। कबीर का यह पद देखिए-

जैं तै करता बरण बिचारै।

तौ जनमत तीनि डाँडि किन सारै॥

नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा,

जाका प्यंड ताही का सींचा।

जहाँ तक आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद के विरोध और वर्ण-वर्ग-विहीत समाज की पक्षधरता का सवाल है, तो इतिहास में एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से पूँजीवाद और वर्ग की व्याख्या हम कार्ल मार्क्स से पहले नहीं देखते। यह कल्पनावादी समाजवाद कबीर और रैदास के दर्शन में भी मौजूद है। अगर हम उनके दर्शन पर निर्गुणवाद की लौकिक दृष्टि डालकर देखें, तो वे भारतीय चिन्तन में सबसे प्रखर भौतिकवादी दर्शनिक है। रैदास ने यह कह कर-

रविदास ब्राह्मण मत पूजिये, जो होवै गुन हीन।

पूजिये चरण चण्डाल के, जउ हो ग्यान परबीन॥

एक नये सौन्दर्य शास्त्र की रचना की थी। यह सामन्तवाद का अब तक का सबसे बड़ा विरोध था। कल्पनावादी समाजवाद उनके इस पद में विद्यमान हैं-

ऐसा चाहौं राज मैं, मिलै सबन को अन्न।

छोट बड़ों सभ सम बसैं, रैदास रहे प्रसन्न।

यदि बकौल ओमप्रकाश वाल्मीकि 'दलित' चेतना का सरोकार इन प्रश्नों से बहुत गहरे जुड़ा है कि मैं कौन हूँ ओर मेरी क्या पहचान है, तो यह बिल्कुल भी गूढ़ प्रश्न नहीं हैं। हिन्दू सस्कृति में इनका अर्थ यही है कि मैं ब्राह्मण हूँ या ठाकुर हूँ या भंगी-चमार हूँ। क्या यही होना मेरी पहचान है, दलित चेतना इस पहचान की पक्षधर तो नहीं है, क्योंकि उसका मूल तत्त्व- **'मैं मनुष्य हूँ' और 'मनुष्यता ही मेरी पहचान है'** यह है। फिर भी यदि वाल्मीकि जी की परेशानी का कारण यह था कि कबीर और रैदास ने अपने आप को जुलाहा और चमारी कहा है, तो यह जातीय पहचान वे स्वयं भी अपने नाम के साथ जोड़ते थे। फिर सन्तों की जातीय पहचान से उन्हें क्या परेशानी थी? सच तो यह है कि जिस तरह ओमप्रकाश वाल्मीकि में अपनी जाति को लेकर कोई हीनता-भाव नहीं था, उसी तरह

दलित सन्त भी अपनी जातियों को लेकर हीनता की ग्रन्थि से मुक्त थे। उसी तरह दलित सन्त भी अपनी जातियों को लेकर हीनता की ग्रन्थि से मुक्त थे। कबीर जब सृष्टि के भूदेवों को ललकारते थे 'तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना' और रैदास यह कहकर लोगों को पुकारते थे- 'कह रैदास खलास चमारा, जो हमसहरी सो मीत हमारा,' तो वे ब्राह्मणवादी समाज को यही बता रहे थे कि ज्ञान का कोई भी सम्बन्ध वर्ण और जाति से नहीं है और न ज्ञान ब्राह्मण की बपौती है।

निस्सन्देह ओमप्रकाश वाल्मीकि इतिहास के विद्यार्थी नहीं थे, और साहित्य के अध्येता के रूप में भी उन्होंने इतिहास का अध्ययन करना आवश्यक नहीं समझा था, इसलिए उनका इतिहास-बोध तथ्यों से परे और कोरी बयानबाजी वाला ही है। वे लिखते हैं- 'ईश्वरभक्ति के लिए इन्हें (सन्तों को) मन्दिर के बाहर ही बैठना पड़ा। ईश्वर भी इनके लिए मन्दिर-प्रवेश कराने में असमर्थ रहा। इनकी कोई मदद ईश्वर नहीं कर पाया। इसलिए भक्तिकालीन सभी सन्त निर्गुण उपासक हैं और सभी भक्त सगुण।' (पृष्ठ ६०)

सन्त साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में निर्गुणवाद पर ऐसी लचर और बचकानी दलील नहीं मिलेगी, जैसी ओमप्रकाश वाल्मीकि ने यहाँ दी है। इसका एक ही कारण था कि वे सन्त-साहित्य से अभिनज्ज थे। अगर वे सन्त-साहित्य पढ़ लेते, तो यह कभी नहीं लिखते कि जिन्हें मन्दिर में प्रवेश नहीं मिला, वे सभी सन्त निर्गुण हो गये। नानक तो अछूत जाति से नहीं थे और उनका समय भी कबीर-रैदास के बाद का है, उन्हें मन्दिर में प्रवेश भी मिल सकता था, फिर वे क्यों निर्गुण के उपासक हुए? यह सवाल वाल्मीकि जी के दिमाग में आया ही नहीं होगा। ऐसे सवाल तभी दिमाग में आते हैं, जब उस विषय का गम्भीर अध्ययन किया जाता है। दरअसल सवाल मन्दिर के भीतर और मन्दिर के बाहर का नहीं है। सवाल भीतर और बाहर

के दर्शन (विचार) का है। मन्दिर के भीतर प्रतिमा है और बाहर प्रतिमा नहीं है। प्रतिमा देवता की है, ईश्वर की नहीं है, ईश्वर जो सर्वोच्च और परम-ईश्वर समझा जाता है, उसकी कोई प्रतिमा आज तक नहीं बनी, वह प्रतिमा न ब्राह्मणों ने बनायी, न ईसाइयों ने और न मुसलमानों ने। निर्गुणवादी सन्त उसी परम-ईश्वर के उपासक थे, जिसके लिए कोई मन्दिर नहीं बना और जो मन्दिर की परिधि से ही मुक्त है। मन्दिर के भीतर दर्शन का जाल है-देवता के नाम, रूप, लीला, कीर्तन, आवागमन, अवतार, बैकुण्ठ, स्वर्ग-नर्क, मोक्ष सबका जाल है। पर, मन्दिर के बाहर इन सबसे मुक्ति है। बाहर सिर्फ लोक है, परलोक नहीं है, मनुष्य का जन्म है, पुनर्जन्म नहीं है।

लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि आगे लिखते हैं कि दलित सन्तों को मन्दिर-प्रवेश के लिए लड़ाई लड़नी चाहिए थी। उनके ये शब्द देखिये-

‘मुस्लिम शासन के प्रभाव से उस काल में अनेक सन्त राष्ट्रीय फलक पर एक साथ उभरे, लेकिन मन्दिर के दरवाजे उनके लिए बन्द थे, जिन्हें खुलवाने के लिए संघर्ष करने के बजाय इन्होंने स्वयं को इस रास्ते से हटाकर निर्गुण की ओर मोड़ दिया, जिसका असर यह हुआ कि समाज में जो एक अधिकार पाने की लड़ाई शुरू होनी चाहिए थी, वह नहीं हुई।’ (वही)

यहाँ वाल्मीकि जी दलित चेतना को कितना गलत मोड़ दे रहे हैं। वे पूरी दलित चेतना को ब्राह्मणवादी चेतना में बदल देने की यह राय दे रहे हैं कि कबीर और रैदास को यह घोषणा करते हुए कि हम हिन्दू हैं, मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार पाने की लड़ाई लड़नी चाहिए थी। क्या हिन्दू-मन्दिरों में प्रवेश करके वर्णव्यवस्था से लड़ा जा सकता था। अम्बेडकर ने भी मन्दिर-प्रवेश को अपने आन्दोलन का कार्यक्रम नहीं बनाया था। उनका नासिक में कालाराम मन्दिर का सत्याग्रह भी मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन नहीं था, बल्कि उसका ध्येय पूरे विश्व को अछूतों की धार्मिक

स्थिति से परिचित कराना था। उन्होंने लन्दन से ३ मार्च १९३४ को अपने सहयोगी भाऊराव गायकवाड को पत्र में लिखा था-

“आपने अगली रामनवमी को कालाराम मन्दिर में सत्याग्रह शुरू करने के विषय में मेरा मत जानना चाहा है। मेरी यह राय है कि सत्याग्रह को आगे न चलाया जाय और पूरी तरह बन्द कर दिया जाय। मैंने मन्दिर-प्रवेश आन्दोलन इसलिए आरम्भ नहीं किया था कि दलित लोग उन देवताओं के पूजक बन जायें, जिन्होंने उन्हें पूजा करने से रोक दिया था। यह आन्दोलन मैंने इसलिए आरम्भ किया था कि मुझे लगता था कि मन्दिर-प्रवेश उन्हें हिन्दू समाज का अनिवार्य अंग बना देगा। इस पहलू से अब तक देखने के बाद दलित वर्गों को हिन्दू समाज की पूर्ण मरम्मत करने पर जोर देने की सलाह दूँगा। मैंने सत्याग्रह इसलिए आरम्भ किया था, क्योंकि मुझे यह लगा था कि दलितों को क्रियाशील बनाने का यह बेहतर रास्ता था, जिसने उन्हें अपनी स्थिति का भी बोध कराया। पर, चूँकि मैं मानता हूँ कि मैंने इस उद्देश्य को प्राप्त कर लिया है, इसलिए अब मुझे मन्दिर-प्रवेश के लिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। मैं चाहता हूँ कि दलित वर्गों के लोग जब अपनी ऊर्जा और अपने संसाधन राजनीति और शिक्षा पर केन्द्रित करें और मुझे आशा है कि वे इन दोनों चीजों के महत्त्व को समझेंगे।” (Dr. Babasaheb Ambedkar Writings And Speeches, Vol. 17, Part One, Page 202)

यदि कबीर और रैदास ने हिन्दू धर्म के साथ ऐसा प्रयोग नहीं किया था, तो इसका कारण यही था कि वे उस चिन्तन-परम्परा से आये थे, जो हिन्दू धर्म की नहीं थी। लेकिन अफसोस कि ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कबीर और रैदास को उनकी अवैदिक परम्परा में समझने की बिल्कुल भी कोशिश नहीं की। इन सन्तों के बारे में उन्होंने अपनी समझ लालजी पेंडसे, डॉ. आर.जी.सिंह, हजारी प्रसाद द्विवेदी और बाबूराव बागुल

इन चार लेखकों की पुस्तकों को पढ़कर विकसित की थी। इसलिए वे अपने लेख में कबीर और रैदास के किसी भी पद का मूल स्रोत नहीं दे सके हैं। वे अपने लेख में शुरु से अन्त तक इन्हीं पुस्तकों के सहारे चले हैं और जहाँ वे स्वतन्त्र हुए हैं, वहाँ उन्होंने किंवदन्तियों का सहारा लिया है। मसलन, वे कहते हैं- “यहाँ। यह तथ्य भी ध्यान आकर्षित करता है कि कबीर और रैदास का गुरु रामानन्द माना जाता है, जो सगुण धारा के भक्त हैं। लेकिन उनके शिष्य कबीर और रैदास निर्गुण धारा के सन्त हैं।” (पृष्ठ ६०)

वाल्मीकि जी को इसी मूल अन्तर से समझ लेना चाहिए था कि रामानन्द कबीर-रैदास के गुरु कैसे हो सकते हैं? दलित-चिन्तन ने कभी भी रामानन्द को कबीर-रैदास का गुरु नहीं माना। इतिहास से भी रामानन्द कबीर के गुरु साबित नहीं होते, क्योंकि रामानन्द कबीर से पहले हुए हैं। कबीर और रैदास को रामानन्द का शिष्य बनाने का सारा खेल केवल ब्राह्मणों ने किंवदन्तियाँ गढ़कर खेला है। अफसोस कि वाल्मीकि जी ने भी इन्हीं किंवदन्तियों को प्रमाण मान लिया था। वे आगे और भी कबीर-रैदास को नकारते हुए लिखते हैं-

“सामाजिक और आध्यात्मिक बदलाव लाने की स्थिति में ये सन्त कभी भी नहीं रहे। यहाँ तक कि कबीर की जो क्रान्तिकारी छवि दिखायी देती है, वह भी आध्यात्मिक सवालों पर संघर्ष करने के बजाय अपना रास्ता ही बदल लेते हैं, जिससे समाज में जिस बदलाव की सम्भावना बन सकती थी, वह सैकड़ों साल आगे खिसक जाती है।” (वही)

वाल्मीकि जी की इस सोच के लिए सिर्फ अफसोस ही किया जा सकता है कि वे कबीर-रैदास के अध्यात्म को नहीं समझ पाये। अगर कबीर और रैदास के अध्यात्म का वही अर्थ है, जो परलोक को जाने वाले हिन्दू अध्यात्म का है, तो वे हिन्दू सगुणवाद का ही वैदिक रास्ता अपनाते, निर्गुणवादी क्यों बनते? फिर

क्या वे वर्णव्यवस्था, ब्राह्मणवाद, अवतारवाद, पुनर्जन्म और परलोक का खण्डन कर पाते? तब भी क्या वे क्रान्तिकारी बने रह सकते थे? वाल्मीकि जी ने यह जानने की भी कोशिश नहीं की थी कि डॉ. अम्बेडकर ने कबीर को अपना गुरु क्यों माना था? क्या वे परलोकवादी हिन्दू-अध्यात्म को मानने वाले कबीर को अपना गुरु मान सकते थे? यहाँ तक आध्यात्मिक सवालों पर संघर्ष करने की बात है कबीर का पूरा जीवन ही इसी संघर्ष में बीता है। यदि वाल्मीकि कबीर के इस कविता-संघर्ष को नहीं देख पाये, तो यह उनकी कमजोरी थी। सच तो यह है कि कबीर और रैदास का ब्राह्मण के साथ संघर्ष ही आध्यात्मिक सवालों पर हुआ था। सामन्तवादी और ब्राह्मणवादी आध्यात्मिक तन्त्र में भाषण के जितने भी प्रपंच हो सकते हैं, कबीर और रैदास ने उन सबके खिलाफ आवाज उठायी है। उन्होंने मूर्ति और तीर्थ तक का खण्डन किया है। कबीर कहते हैं - “तीर्थ में तो सब पानी है, होवे नहीं कुछ अन्हाय देखा/प्रतिमा सकल तो जड़ हैं भाई, बोले नहीं बोलाय देखा।” लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि पता नहीं, अपने किस स्रोत से लिखते हैं कि रैदास “गंगा-स्नान के लिए नहीं जा सकते थे।” इसी विवशता में रैदास को भी कहना पड़ा- “मन चंगा तो कठौती में गंगा।” (वही) यह वाल्मीकि का मन-गढ़न्त चिन्तन है, क्योंकि वह जिस पद को उद्धारित कर रहे हैं, वह पद रैदास का है ही नहीं। रैदास यह कह नहीं सकते थे कि “मन चंगा तो कठौती में गंगा”, क्योंकि उन्होंने गंगा को कभी तीर्थ नहीं माना। दरअसल जिस पद को वाल्मीकि रैदास का बता रहे हैं, वह गोरखनाथ का है, जो इस तरह है- “अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा/बांध्या मेलहा तो जगत्र चेला।” (गोरखबानी, पद १५३)

वाल्मीकि पूछते हैं वर्णव्यवस्था और जातिभेद को लेकर कबीर ने जो सवाल खड़े किये, उसका प्रभाव समाज में किस रूप में पड़ा? फिर खुद ही

जवाब देते हैं-

“हिन्दी के प्रतिष्ठित रचनाकार प्रतापनारायण मिश्र उन्हें नीच लोगों का कवि कहते हैं। यानी साहित्य में मौजूद जातिवादी मानसिकता कबीर जैसे कवि को जातीय घेरे से बाहर नहीं आने देती है। यही स्थिति रैदास के साथ भी है।” (वही, पृष्ठ ६०-६१)

वाल्मीकि यहाँ क्या कहना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं है। पर, उनके लिए यहाँ कबीर से ज्यादा महत्वपूर्ण प्रतापनारायण मिश्र हो गये हैं, जो ब्राह्मणवाद के खिलाफ जागरण करने वाले कवि को नीच कहकर गाली दे रहे हैं। वे समझ ही नहीं रहे थे कि यही तो कबीर के कविता-संघर्ष की सफलता है। क्या डॉ. अम्बेडकर को हिन्दुओं की गालियाँ नहीं मिली थीं? क्या गांधी ने उन्हें साँप नहीं कहा था? यही तो उनके संघर्ष की सफलता थी। यदि वे ब्राह्मणवाद और हिन्दूधर्म की आलोचना नहीं करते, तो क्या उन्हें गालियाँ मिलती? क्यों गांधी जी अम्बेडकर को साँप कहते?

आगे ओमप्रकाश वाल्मीकि रैदास के ये दो पद उद्धरित करते हैं-

रैदास जनम के कारणे होइ न कोई नीच।

नर को नीच करि डारि है, ओछे करम की कीच।।

ऊँचे कुल के कारणे, ब्राह्मण कोय न होय।

जेउ जान्हि ब्रह्म आत्मा, रैदास कहि ब्राह्मण होय।।

इन पदों पर वाल्मीकि टिप्पणी करते हैं- ‘यानी रैदास भी ब्रह्म के जानकार को ही ब्राह्मण मान रहे हैं। यानी घूम-फिर कर उसी दर्शन को सही मान रहे हैं, जिसके आधार पर वर्णव्यवस्था जैसी अमानवीय सोच तैयार की गयी है। उनका विरोध भी उन्हें स्वयं को ‘जाति-मुक्त’ करने में असफल रहा।’ (वही, पृष्ठ ६१)

जहाँ तक जाति से मुक्त होने का प्रश्न है, भारत में कोई भी जाति से मुक्त नहीं है। आदमी जहाँ भी जाता है, जाति उसके साथ जाती है। क्या वाल्मीकि जी जाति से मुक्त हो सके थे? रैदास के उपर्युक्त पद

ब्राह्मण की जन्मजात श्रेष्ठता के खण्डन में कहे गये हैं, वर्णव्यवस्था के समर्थन में नहीं, जैसाकि वाल्मीकि आरोपित करते हैं। रैदास अपने पदों में यही कह रहे हैं कि शूद्रत्व और ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता। वाल्मीकि जी को मालूम होना चाहिए था कि कबीर-रैदास की इसी वैचारिकी से समकालीन ब्राह्मण तिलमिला गये थे, जिसकी गूँज सोलहवीं सदी में तुलसीदास तक दिखायी देती है। यथा-

बादहि सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्हते कुछ घाटि।

जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाँटि।।

(मानस, उत्तर काण्ड-१५७)

इस दोहे में ब्राह्मणवाद का खण्डन करने वाले निर्गुण सन्तों के विरुद्ध तुलसीदास का क्रांति साफ-साफ देखा जा सकता है। लेकिन वाल्मीकि जी किसी भी तरह निर्गुण सन्तों को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। वे पुनः उन्हें खारिज करते हुए लिखते हैं-

“यहाँ इस उपलब्धि को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता था कि सिखों के गुरु ग्रन्थ साहिब में रैदास की कविताओं को समान स्थान मिला। इसके बावजूद भी वे जितने पूजनीय और मान्य अपनी जाति में हैं, उतने अन्य जातियों में नहीं हैं। जो विद्रोही रूप जाति-व्यवस्था के विरुद्ध सन्त साहित्य में उभरना चाहिए था, वह नहीं उभर सका।” (वही, पृष्ठ ६१)

अगर रैदास अपनी जाति में मान्य हैं, अन्य जातियों में नहीं हैं, तो क्या इसके लिए रैदास दोषी हैं या इस देश की जाति-व्यवस्था दोषी है? इतनी सीधी-सी बात भी ओमप्रकाश वाल्मीकि नहीं समझ सके। जाति व्यवस्था के विरुद्ध कौन-सी विद्रोही रूप सन्त साहित्य में नहीं उभरा, यह भी उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। पन्द्रहवीं सदी में सन्त साहित्य में जाति व्यवस्था के खिलाफ क्या इससे बड़ा कोई विद्रोही रूप हो सकता था, जो हमें कबीर और रैदास के यहाँ मिलता है? आखिर वाल्मीकि के पास विद्रोह का क्या मानदण्ड था? वाल्मीकि ने इस सम्बन्ध में किन्ही डॉ. आर.जी.सिंह

के इन शब्दों को उद्धरित किया है-

“भक्ति डॉ. अम्बेडकर के अनुसार लोगों में समर्पण की भावना को बढ़ाती है। यह समाज के लिए अफीम का काम करती है। भक्ति ने दलितों की नसों को कमजोर किया है। उनमें अधीनता की भावना को विकसित किया है।” (वही)

अच्छा होता, यदि वाल्मीकि डॉ. आर.जी.सिंह के स्रोत को डॉ. अम्बेडकर की मूल रचनाओं में तलाश कर लेते, तो उन्हें उसका सही सन्दर्भ मिल जाता। डॉ. आर.जी. सिंह की जिस पुस्तक का हवाला वाल्मीकि ने दिया है, उसकी पृष्ठ संख्या का उल्लेख भी उन्होंने नहीं किया है। सम्भवतः वह पुस्तक भी उनके पास न हो और अन्यत्र ही उसका सन्दर्भ उन्होंने पढ़ा हो। आर.जी.सिंह की सन्दर्भित पुस्तक का नाम ‘भारतीय दलितों की समस्याएँ और उनका समाधान’ है, जिसका प्रकाशन १९८६ में मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल से हुआ था। वाल्मीकि ने जिन पंक्तियों को उद्धरित किया है, वे आर.जी.सिंह की किताब में डॉ. धनंजय कीर के हवाले से लिखी गयी हैं। डॉ. अम्बेडकर ने ब्राह्मण सन्तों के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त किये थे, जो उनके ग्रन्थ ‘जाति का विनाश’ में मिलते हैं। इसे डॉ. कीर ने भी स्पष्ट किया है। पर आर.जी. सिंह ने दलित सन्तों और ब्राह्मण सन्तों को अलग-अलग रेखांकित करने के बजाय दोनों को एक ही श्रेणी में रख दिया है और इसी अर्थ को वाल्मीकि ने भी मान लिया। सच्चाई यह है कि डॉ. अम्बेडकर ने ब्राह्मण सन्तों के सन्दर्भ में भक्ति का विरोध किया है। पर, वाल्मीकि डॉ. अम्बेडकर के हवाले से भी सन्तों का विरोध करने का अवसर नहीं छोड़ते हैं। वे डॉ. अम्बेडकर की ये पंक्तियाँ उद्धरित करते हैं-

“जहाँ तक सन्तों का प्रश्न है, किसी भी सन्त ने जाति-व्यवस्था पर कभी भी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जात-पाँत की व्यवस्था के पक्के विश्वासी

रहे हैं। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सारे मानव बराबर हैं, परन्तु यह शिक्षा दी कि ईश्वर की दृष्टि में सारे मानव समान हैं।” (पृष्ठ ६२)

ये पंक्तियाँ वाल्मीकि ने डॉ. अम्बेडकर की पुस्तक में ‘जाति का विनाश’ (ऐनिहिलेशन ऑफ कास्ट) से उद्धरित की हैं, पर सन्दर्भ से अलग करके उद्धरित की गयी हैं। अगर वे उनके पूरे उद्धरण को लेते तो साफ हो जाता कि उनके ये विचार ब्राह्मण-वैष्णव सन्तों के बारे में हैं। अम्बेडकर ने ये विचार गाँधी जी के एक सवाल के जवाब में व्यक्त किये थे। पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ वह पूरा उद्धरण दिया जा रहा है-

“जहाँ तक सन्तों का प्रश्न है तो मानना पड़ेगा कि विद्वान लोगों की तुलना में सन्तों के उपदेश कितने ही अलग और उच्च हों, वे शोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे हैं। वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं। पहला, किसी भी सन्त ने जाति-व्यवस्था पर कभी भी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जात-पाँत की व्यवस्था के पक्के विश्वासी रहे हैं। उनमें से अधिकतर उसी जाति के होकर जिये और मरे, जिस जाति के वे थे ज्ञानदेव ब्राह्मण के रूप में अपनी प्रतिष्ठा से इतने उत्कट रूप से जुड़े थे कि जब ब्राह्मण ने उन्हें समाज में बने रहने से इनकार कर दिया, तो उन्होंने ब्राह्मण पद की मान्यता पाने के लिए जमीन-आसमान एक कर दिया था। सन्त एकनाथ, जो अछूतों को छूने तथा उनके साथ भोजन करने का साहस दिखाने के लिए धर्मात्मा बने हुए हैं, उन्होंने ऐसा इसलिए नहीं किया, क्योंकि वे जाति-पाँत और छुआछूत के विरुद्ध थे, बल्कि उन्होंने ऐसा इसलिए किया, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि अपवित्रता को पवित्र गंगा नदी (अंत्याजाचा विटाल ज्यासी, गंगा स्नाने शुद्धत्व त्यासी) में स्नान करके धोया जा सकता है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, किसी भी सन्त ने जाति-पाँत और छुआछूत के विरुद्ध कोई अभियान नहीं चलाया। मनुष्यों

के बीच चल रहे संघर्ष से वे चिन्तित नहीं थे। वे मनुष्य और ईश्वर के बीच सम्बन्ध के लिए ही चिन्तित थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सारे मनुष्य बराबर हैं। यह एक बहुत अलग और बहुत अहानिकर प्रस्ताव है, जिसकी शिक्षा देने में किसी को कोई परेशानी नहीं होगी या जिसके मानने में कोई खतरा नहीं है। दूसरा कारण यह है कि सन्तों की शिक्षा प्रभावहीन रही है, क्योंकि लोगों को पढ़ाया गया है कि सन्त जाति का बन्धन तोड़ सकते हैं, लेकिन आदमी यह बन्धन नहीं तोड़ सकता। इसलिए सन्त अनुसरण करने का उदाहरण नहीं बने।” (डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड १, पृष्ठ ११३)

इस उद्धरण में डॉ. अम्बेडकर ने कहीं भी कबीर, रैदास या किसी भी निर्गुण दलित सन्त का जिक्र नहीं किया है। उन्होंने ज्ञानदेव और एकनाथ जैसे ब्राह्मण सन्तों के विषय में अपना मत व्यक्त किया है। इससे साफ है कि वाल्मीकि ने दलित सन्तों के बारे में डॉ. अम्बेडकर को गलत ढंग से उद्धरित करने का काम किया है।

कबीर के सामाजिक विरोधाभासों का परिचय कराते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने यह बताने की भी कोशिश की है कि कबीर स्त्री-विरोधी थे। लेकिन उन्होंने यह जानने का प्रयास नहीं किया कि कबीर ने केवल उन स्त्रियों की निन्दा की है, जो विवाहेतर सम्बन्ध रखती थी। इसी आधार पर उन्होंने कामी पुरुष की भी निन्दा की है। वाल्मीकि ने स्त्री-विरोधी होने का आरोप सिद्धों पर भी लगाया है। वे लिखते हैं- “वे सन्त और सिद्ध जहाँ एक ओर जाति का विरोध कर रहे हैं, वहाँ स्त्री के प्रति असहिष्णुता भी दिखा रहे थे।” (वही, पृष्ठ ६३) लेकिन अपने मत की पुष्टि में वे सिद्धों का कोई भी दोहा पेश नहीं कर सके हैं। जो दोहा उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह सरहदपाद का यह दोहा है-
*ब्राह्मणशेहि म जानन्त भउ। एव उ पढ़ि अउ एच उ वेउ।।
मट्टी, पाणी, कुस, लई, पढ़न्त। धरहिं वह सी अग्नि*

हुणन्त।। (वही)

कोष्ठक में इन दोहों का अर्थ वाल्मीकि ने यह दिया है- “ब्राह्मण ही क्यों हाथ में कुश, जल लेकर हवन करते हैं? यदि आग में घी डाल देने से मोक्ष मिलता है, तो क्यों नहीं सब अन्त्यजों को आग में घी डालकर यज्ञ और हवन करने देते।” (वही)

यहाँ मुझे वाल्मीकि जी की नकल करने की प्रवृत्ति पर तरस आता है। उन्होंने सरहदपाद के दोहे और उनके और उनके अर्थ जहाँ से भी नकल किये हैं, वे पूरी तरह अशुद्ध हैं। माना कि मूल दोहे अपभ्रंश में हैं, पर इस अशुद्ध अनुवाद में भी तो यह तो साफ दिखायी दे ही रहा है कि ‘मोक्ष’ और ‘अन्यज’ शब्द उनमें आये ही नहीं हैं। अर्थ को नकल करते समय इस बात को उन्हें समझाना चाहिए था। सरहदपाद के उपर्युक्त दोहों का अशुद्ध अपभ्रंश का पाठ इस तरह है-

*ब्रह्मणेहि म जानन्तहि भउ। एवइ एदिअउ ए चउवेउ।।
मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त। धरहिं अग्रगि हुणन्तं।।*

इन दोहों का सही अनुवाद इस प्रकार है, जो राहुल सांकृत्यायन ने छायानुवाद के रूप में किया है-
*ब्राह्मण न जानते भेद। यों ही पढ़े ये चारों वेद।।
मट्टी पानी कुश लेई पढ़न्त। घर ही बैठी अग्नि होमन्त।।*

(दोहा कोश, पृष्ठ २)

ओमप्रकाश वाल्मीकि सरहदपाद द्वारा ब्राह्मणवादी व्यवस्था को दी गयी इस चुनौती को दलित चेतना की पूर्व पीठिका मानने के बजाय उसे यह कह कर नकार देते हैं कि ‘एक लम्बे कालखण्ड में यह चेतना दबकर रह गयी।’ (वही, पृष्ठ ६३) किन्तु वे यह नहीं देख सके कि सामाजिक क्रान्ति की यही चेतना लोकायत और बुद्ध से होकर सिद्धों तक आयी थी, और सिद्धों से दलित सन्तों के निर्गुणवाद में विकसित होती हुई अम्बेडकर तक पहुँची थी और इसी चेतना का विकास आधुनिक दलित साहित्य में हुआ है।

हिंदी साहित्य में अपूर्णीय क्षति है मुद्राराक्षस का जाना

—संजीव खुदशाह

करीब १० साल पहले एक किताब मेरे हाथ लगी नाम था 'धर्म ग्रंथों को पुनरूपाठ'। उसे मैंने दो दिनों में ही पूरा पढ़ लिया। महत्वपूर्ण हिस्सों पर अंडरलाईन करने की मेरी आदत रही है। ऐसा लग रहा था की पूरी किताब अंडरलाईन न हो जाय। शोधात्मक एवं आम सरल भाषा शैली में लिखी इस किताब ने मुझे भीतर तक प्रभावित किया। पूर्वाग्रह मुक्त तथा गहरे अध्ययन को दर्शाती इस किताब के लेखक मुद्राराक्षस से मेरा पहला परिचय इसी प्रकार हुआ।

चर्चित पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' के अन्य पिछड़ा वर्ग विशेषांक के लिए बतौर अतिथि संपादक इन पंक्तियों के लेखक को मुद्राराक्षस जी का इंटरव्यू लेना था। लखनऊ स्थित उनके निवास के लैण्ड लाईन नंबर पर उनसे संपर्क हुआ। वे पहली बार में ही ऐसे बात कर रहे थे मानो कई बार रुबरु मिल चुके हो। मेल द्वारा उन्हें प्रश्नावली भेजी गई ताकि जवाब बना कर भेज दे। लेकिन बात नहीं बनी।

कुछ दिनों बाद लखनऊ में क्रांतिकारी सांस्कृतिक मंच द्वारा आयोजित होने वाले एक कार्यक्रम जिसमें वे मुख्य अतिथि थे। मुझे भी इस कार्यक्रम में शिकरत करना था। मेरे लिये एक अच्छा मौका था अपने पसंदीदा लेखक से मिलने का। आयोजन समिति ने मुझे और लखनऊ के ही एक साथी राजू जी को मुद्राराक्षस को उनके निवास से कार्यक्रम स्थल तक सम्मान लाने की जिम्मेदारी दी गई। हम उनके घर की दिशा पर निकल पड़े। मुझे आश्चर्य हुआ की लखनऊ के उस बड़े मुहल्ले पर बच्चा उनके नाम और निवास से वाकिफ था। गली में खड़ी महिलाओं से पूछते तो वे तुरंत हाथ का इशारा दिखा कर दिशा बता देती मानो यही पास में ही उनका निवास हो। लेकिन चलते चलते काफी दूर जाना पड़ा और उनका निवास मिल ही गया।

अपने घर में कुर्ता पायजामा पहन कर पहले से ही तैयार थे। उनके कमरे में किताबें बिखरी हुई थी। एक बुजुर्ग लेखक से आखिर उम्मीद भी क्या की जा सकती है। वे काफी कमजोर लग रहे थे लेकिन चेहरे की मुस्कराहट तथा ताजगी बता रही थी की वे अंदर से काफी मजबूत है। उनके निवास से कार्यक्रम स्थल तक सफर के दौरान मैंने उनका इंटरव्यू रिकार्ड कर लिया। उन्होंने ही बड़ी ही बे बाकी से अन्य पिछड़ा और अल्प संख्यांक मुद्दों पर बात की। उनके साथ मेरे जीवन का ये एक स्वर्णिम पल था। वे अपने जीवन के कुछ अनुभव भी साझा कर रहे थे।

कार्यक्रम के बाद एक छोटी से रैली और अंत में आम-सभा होना था। उनसे कहा गया की वे कार में बैठ जाए उन्हें सभी स्थल तक पहुँचा दिया जायेगा। लेकिन वे अड़े रहे कहने लगे पैदल ही जाऊंगा कुछ दूर चलने के बाद वे थकने लगे, मान मनुवल के बाद उन्हें कुछ दूर स्कूटर से ले जाया गया। सभा में वे नारे लगाने में तल्लीन थे, कही से भी ऐसा नहीं लग रहा था की वे वरिष्ठतम एवं दिग्गज साहित्यकार हों। बैठे रहे जमीन पर ही बिलकुल आम आदमी की तरह।

धर्म ग्रंथों का पुनरूपाठ किताब का जिक्र मैं यहाँ इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि वे इस किताब में विश्व के सभी प्रमुख धर्मों की किताब को एक पलट पर रख कर विश्लेषण करते हैं। वे बताते हैं की वेद और ओल्ड टेस्टामेंट में क्या अंतर्संबंध है, वे बताते हैं की कृष्ण और क्राईस्ट के जीवन में समानता क्यों है? वे प्रश्न उठाते हैं की कृष्ण, क्राईस्ट और मोहम्मद साहेब का एक ही व्यवसाय क्यों है? वे उस कारण का जवाब इस किताब में देते हैं कि ब्रम्हा, इब्राहिम तथा अब्राहम के उच्चारण में समानता क्यों है। वे तथ्यों के साथ ऐसे-ऐसे विश्लेषण पेश करते हैं कि

दिमागों की चूले हिलने लगती हैं।

गौर तलब है की वे पिछले वर्षों साहित्य जगत में इस वजह से सुर्खियों में थे क्योंकि उन्होंने लोक सभा का चुनाव लड़ा था। हालांकि उनकी जमानत जब्त हो गई थी। एक समय सुभाष चंद्र गुप्ता के रूप में जाने जाने वाले शास्त्र ने मुद्राराक्षस का वरण क्यों किया यह एक रोचक किस्सा है जिसे मैं कभी और सुनाऊंगा। लेकिन यह बताना अभी जरूरी है की उनके नाम के अनुरूप उनकी आभा झलकती है, उनका विद्रोही तेवर, जिंदगी के हर पहलू में दिखाई पड़ता है चाहे साहित्य जगत हो या आर्थिक जगत या निजी जीवन। उन्होंने अपने ऊसूलों के साथ कभी समझौता नहीं किया। दलित और महिला मुद्दों को पहले पहल उन्होंने ही

उठाया, बाद में राजेंद्र यादव जी इन मुद्दों को उठाते रहे।

श्री मुद्राराक्षस हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी और संस्कृत में समान अधिकार रखते थे। गजब की स्मरण शक्ति थी। कहते हैं कि वे अपने भाषण में हिंदी, अंग्रेजी और संस्कृत के उद्धरण बड़ी ही शिद्दत तथा विश्वास के साथ देते थे। मानो वे किताब पढ़ रहे हो, वे बेहद प्रासंगिक हो जाते हैं। जिन्होंने मौकापरस्ती को अपने सिद्धांत के आगे आड़े आने नहीं दिया। आज उनका साहित्य ही हमारे लिये अमूल्य नीधि है। मुझे लगता है की उनके साहित्य का पुनर्पाठ ही उनके लिए सच्ची श्रद्धांजली होगी और हमारे लिये एक ऊर्जा का श्रोत। उन्हें सादर नमन।

जो भी हो अपने तमाम साम्राज्यवादी अभियान के बावजूद अंग्रेज ने भारतीय इतिहास के लिए दो काम जरूर किए और वे काम अंग्रेज ने न किए होते तो भारत का इतिहास शायद लिखा ही न जा पाता। वे दो काम थे—संस्कृत के अगाध साहित्य का ब्राह्मणों के तहखानों से उद्धार और पुरातत्व तथा आधुनिक इतिहास-लेखन की शुरुआत। अंग्रेजों के भारत आने से पहले तक यहाँ बौद्ध संस्कृति लगभग लुप्तप्राय थी। जो संस्कृतियाँ जीवित थीं, उनमें प्रमुख थी इस्लामी और ब्राह्मण संस्कृति। अठारहवीं सदी में इस्लाम का सक्रिय इतिहास बचा नहीं था। ब्राह्मण संस्कृति धर्मतंत्र में जरूर जीवित थी, पर उसका भी भारत के सक्रिय इतिहास में कोई हस्तक्षेप बचा नहीं था। इस्लाम और ब्राह्मणवाद में बहुत कुछ समान रहा है। इन समानताओं में, एक यह भी थी कि अंग्रेजों के भारत आने तक दोनों ही संस्कृतियाँ वैज्ञानिकता और ऐतिहासिक तात्त्विकता से दूर थीं। दोनों के लिए इतिहास तब तक समाज की तर्कसंगत व्याख्या के बजाय आत्मगौरव का स्रोत था।

—मुद्राराक्षस (उद्धृत— धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ)